हिन्दी साहित्य का इतिहास
(विवेचनात्मक अध्ययन)

(History of Hindi Literatuare (Critical Study))

विनोद कर्ण

हिन्दी साहित्य का इतिहास

विवेचनात्मक अध्ययन

हिन्दी साहित्य का इतिहास

विवेचनात्मक अध्ययन

(History of Hindi Literature Critical Study)

विनोद कर्ण

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5577-9

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली – 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य का आरंभ आठवीं शताब्दी से माना जाता है। यह वह समय है, जब सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद देश में अनेक छोटे-छोटे शासनकेन्द्र स्थापित हो गए थे, जो परस्पर संघर्षरत रहा करते थे। विदेशी मुसलमानों से भी इनकी टक्कर होती रहती थी। धार्मिक क्षेत्र अस्त-व्यस्त थे। इन दिनों उत्तर भारत के अनेक भागों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। बौद्ध धर्म का विकास कई रूपों में हुआ, जिनमें से एक वज्रयान कहलाया। वज्रयानी तांत्रिक थे और सिद्ध कहलाते थे। इन्होंने जनता के बीच उस समय की लोकभाषा में अपने मत का प्रचार किया। हिन्दी का प्राचीनतम साहित्य इन्हीं वज्रयानी सिद्धों द्वारा तत्कालीन लोकभाषा पुरानी हिन्दी में लिखा गया।

इसके बाद नाथपंथी साधुओं का समय आता है। इन्होंने बौद्ध, शांकर, तंत्र, योग और शैव मतों के मिश्रण से अपना नया पंथ चलाया, जिसमें सभी वर्गों और वर्णों के लिए धर्म का एक सामान्य मत प्रतिपादित किया गया था। लोकप्रचलित पुरानी हिन्दी में लिखी इनकी अनेक धार्मिक रचनाएँ उपलब्ध हैं। इसके बाद जैनियों की रचनाएँ मिलती हैं। स्वयंभू का 'पउमचरिउ' अथवा रामायण आठवीं शताब्दी की रचना है।

बौद्धों और नाथपंथियों की रचनाएँ मुक्तक और केवल धार्मिक हैं, पर जैनियों की अनेक रचनाएँ जीवन की सामान्य अनुभूतियों से भी संबद्ध हैं। इनमें से कई प्रबंधकाव्य हैं। इसी काल में अब्दुर्रहमान का काव्य 'संदेशरासक' भी

लिखा गया, जिसमें परवर्ती बोलचाल के निकट की भाषा मिलती है। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी तक पुरानी हिन्दी का रूप निर्मित और विकसित होता रहा।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**हिन्दी साहित्य का इतिहास**	**1**
	हिन्दी साहित्य के इतिहासकार और उनके ग्रन्थ	2
	हिन्दी साहित्य के विकास के विभिन्न काल	3
2.	**वैदिक संस्कृत**	**22**
	लौकिक संस्कृत का वैदिक संस्कृत से भेद	23
	वैदिक साहित्य का काल	28
	वैदिक साहित्य का वर्गीकरण	28
3.	**बौद्ध धर्म**	**40**
	अष्टांगिक मार्ग	46
	लुम्बिनी	53
4.	**जैन धर्म**	**57**
	भगवान	58
	दर्शन	58
	छह द्रव्य	62
5.	**पाणिनि**	**69**
	जीवनी एवं कार्य	69
	समयकाल	74

पाणिनि का महत्त्व 75
6. संस्कृत व्याकरण 78
वचन 79
संस्कृत व्याकरण का इतिहास 86
गणपाठ एवं धातुपाठ 86
संस्कृत व्याकरण का दार्शनिक विवेचन 87
पाणिनीय व्याकरण 90
प्रक्रिया ग्रंथ 91
7. हिन्दी की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ 95
कविता 95
द्विवेदीयुगीन काव्यधारा 95
छायावाद तथा रहस्यवाद 96
हालावाद तथा मांसलवाद 97
आधुनिक हिंदी पद्य का इतिहास 100
प्रगतिवादी युग की कविता (1936) 103
प्रयोगवाद-नयी कविता युग की कविता (1943-1960) 103
8. भक्ति काल 110
भक्ति काल 111
संत कवि 112
9. आदिकाल 123
सिद्ध और नाथ साहित्य 123
प्रकीर्णक साहित्य 125
10. रीति काल 131
11. हिंदी की विभिन्न बोलियाँ और उनका साहित्य 136
पश्चिमी और पूर्वी हिंदी 137
पश्चिमी हिन्दी 137
पूर्वी हिन्दी 137
प्रयोग-क्षेत्र के अनुसार वर्गीकरण 139
हिंदी प्रदेशों की हिंदी बोलियाँ 140
12. हिन्दी पत्रकारिता 142
भारतीय भाषाओं में पत्रकारिता का आरम्भ और हिन्दी पत्रकारिता 142

हिंदी पत्रकारिता का पहला चरण 143
इतिहास 158
खेल पत्रकारिता 159
महिला पत्रकारिता 161
बाल-पत्रकारिता 162
आर्थिक पत्रकारिता 163
13. हिन्दी नाटक 166
हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु हरिश्चंद्र 167
भारतेन्दु के पश्चात् 170
स्वतंत्रता के पश्चात 171
14. छायावादी युग 173
मुख्य कवि और उनकी रचनाएँ 173
ब्रज भाषा का काव्य 175
15. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास 177
गद्य का विकास 177
भारतेन्दु पूर्व युग 178
भारतेन्दु युग 178
द्विवेदी युग 179
नई कविता और समकालीन कविता 183
16. भारतेन्दु युग 185
भारतेन्दु मण्डल 186
भारतेन्दुकालीन कथा 186
भारतेन्दु युग के साहित्यिक महत्त्व 188

1

हिन्दी साहित्य का इतिहास

हिन्दी साहित्य पर अगर समुचित परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाए तो स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास अत्यंत विस्तृत व प्राचीन है। सुप्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डॉ. हरदेव बाहरी के शब्दों में, हिन्दी साहित्य का इतिहास वस्तुतः वैदिक काल से आरम्भ होता है। यह कहना ही ठीक होगा कि वैदिक भाषा ही हिन्दी है। इस भाषा का दुर्भाग्य रहा है कि युग-युग में इसका नाम परिवर्तित होता रहा है। कभी 'वैदिक', कभी 'संस्कृत', कभी 'प्राकृत', कभी'अपभ्रंष' और अब - हिन्दी। आलोचक कह सकते हैं कि 'वैदिक संस्कृत' और 'हिन्दी' में तो जमीन-आसमान का अन्तर है। पर ध्यान देने योग्य है कि fgC, रूसी, चीनी, जर्मन और तमिल आदि जिन भाषाओं को 'बहुत पुरानी' बताया जाता है, उनके भी प्राचीन और वर्तमान रूपों में जमीन-आसमान का अन्तर है, पर लोगों ने उन भाषाओं के नाम नहीं बदले और उनके परिवर्तित स्वरूपों को 'प्राचीन' 'मध्यकालीन' 'आधुनिक' आदि कहा गया, जबकि 'हिन्दी' के सन्दर्भ में प्रत्येक युग की भाषा का नया नाम रखा जाता रहा।

हिन्दी भाषा के उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं पर विचार करते समय हमारे सामने हिन्दी भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न दसवीं 'शताब्दी के आस-पास की प्राकृताभास भाषा तथा अपभ्रंश भाषाओं की ओर जाता है। अपभ्रंश 'शब्द की व्युत्पत्ति और जैन रचनाकारों की अपभ्रंश कृतियों का हिन्दी से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जो तर्क और प्रमाण हिन्दी साहित्य के इतिहास

ग्रन्थों में प्रस्तुत किये गये हैं उन पर विचार करना भी आवश्यक है। सामान्यत: प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश-अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव स्वीकार किया जाता है। उस समय अपभ्रंश के कई रूप थे और उनमें सातवीं-आठवीं शताब्दी से ही पद्य-रचना प्रारम्भ हो गयी थी।

साहित्य की दृष्टि से पद्यबद्ध जो रचनाएँ मिलती हैं। वे दोहा रूप में ही हैं और उनके विषय, धर्म, नीति, उपदेश आदि प्रमुख हैं। राजाश्रित कवि और चारण नीति, शृंगार, शौर्य, पराक्रम आदि के वर्णन से अपनी साहित्य-रुचि का परिचय दिया करते थे। यह रचना-परम्परा आगे चलकर शौरसेनी अपभ्रंश या 'प्राकृताभास हिन्दी' में कई वर्षों तक चलती रही। पुरानी अपभ्रंश भाषा और बोल-चाल की देशी भाषा का प्रयोग निरन्तर बढ़ता गया। इस भाषा को विद्यापति ने देशी भाषा कहा है, किन्तु यह निर्णय करना सरल नहीं है कि हिन्दी शब्द का प्रयोग इस भाषा के लिए कब और किस देश में प्रारम्भ हुआ।

आरंभिक काल से लेकर आधुनिक व आज की भाषा में आधुनिकोत्तर काल तक साहित्य इतिहास लेखकों के सर्वाधिक नाम गिनाये जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास शब्दबद्ध करने का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण था।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकार और उनके ग्रन्थ

हिन्दी साहित्य के मुख्य इतिहासकार और उनके ग्रन्थ निम्नानुसार हैं–

1. गार्सा द तासी : इस्तवार द ला लितेरात्यूर ऐंदुई ऐंदुस्तानी (फ्रेंच भाषा मेंय फ्रेंच विद्वान, हिन्दी साहित्य के पहले इतिहासकार),(1839)
2. मौलवी करीमुद्दीन : तजकिरा-ऐ-शुअराई, (1848)
3. शिवसिंह सेंगर : शिव सिंह सरोज,(1883)
4. जार्ज ग्रियर्सन : द मॉडर्न वर्नेक्यूलर लिट्रैचर ऑफ हिंदोस्तान, (1888)
5. मिश्र बंधु : मिश्र बंधु विनोद (चार भागों में) भाग 1,2 और 3-(1913 में) भाग 4 (1934 में)
6. एडविन ग्रीव्स : ए स्कैच ऑफ हिंदी लिटरेचर,(1917)
7. एफ. ई. के. महोदय : ए हिस्ट्री ऑफ हिंदी लिटरेचर (1920)
8. रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास (1929)
9. हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य की भूमिका(1940)य हिन्दी साहित्य का आदिकाल(1952)य हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास(1955)

10. रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास(1938)
11. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य (तीन खण्डों में),
12. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (सोलह खण्डों में) - 1957 से 1984 ई. तक।
13. डॉ. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास (1973)य हिन्दी वांग्मय 20वीं शती
14. रामस्व : प चतुर्वेदी : हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1986,
15. बच्चन सिंह : हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली(1996)
16. डॉ. मोहन अवस्थी : हिन्दी साहित्य का अद्यतन इतिहास
17. बाबू गुलाब राय : हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास

हिन्दी साहित्य के विकास के विभिन्न काल

हिन्दी साहित्य का आरंभ आठवीं शताब्दी से माना जाता है। यह वह समय है जब सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद देश में अनेक छोटे छोटे शासनकेन्द्र स्थापित हो गए थे जो परस्पर संघर्षरत रहा करते थे। विदेशी मुसलमानों से भी इनकी टक्कर होती रहती थी। धार्मिक क्षेत्र अस्त व्यस्त थे। इन दिनों उत्तर भारत के अनेक भागों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। बौद्ध धर्म का विकास कई रूपों में हुआ जिनमें से एक वज्रयान कहलाया। वज्रयानी तांत्रिक थे और सिद्ध कहलाते थे। इन्होंने जनता के बीच उस समय की लोकभाषा में अपने मत का प्रचार किया। हिन्दी का प्राचीनतम साहित्य इन्हीं वज्रयानी सिद्धों द्वारा तत्कलीन लोकभाषा पुरानी हिन्दी में लिखा गया। इसके बाद नाथपंथी साधुओं का समय आता है। इन्होंने बौद्ध, शांकर, तंत्र, योग और शैव मतों के मिश्रण से अपना नया पंथ चलाया जिसमें सभी वर्गों और वर्णों के लिए धर्म का एक सामान्य मत प्रतिपादित किया गया था। लोकप्रचलित पुरानी हिन्दी में लिखी इनकी अनेक धार्मिक रचनाएँ उपलब्ध हैं। इसके बाद जैनियों की रचनाएँ मिलती हैं। स्वयंभू का 'पउमचरिउ' अथवा रामायण आठवीं शताब्दी की रचना है। बौद्धों और नाथपंथियों की रचनाएँ मुक्तक और केवल धार्मिक हैं पर जैनियों की अनेक रचनाएँ जीवन की सामान्य अनुभूतियों से भी संबद्ध हैं। इनमें से कई प्रबंधकाव्य हैं। इसी काल में अब्दुर्रहमान का काव्य 'संदेशरासक' भी लिखा गया जिसमें

परवर्ती बोलचाल के निकट की भाषा मिलती है। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी तक पुरानी हिन्दी का रूप निर्मित और विकसित होता रहा।

आदिकाल (650 ई. से 1350 ई.)

ग्यारहवीं सदी के लगभग देशभाषा हिन्दी का रूप अधिक स्पष्ट होने लगा। उस समय पश्चिमी हिन्दी प्रदेश में अनेक छोटे-छोटे राजपूत राज्य स्थापित हो गए थे। ये परस्पर अथवा विदेशी आक्रमणकारियों से प्राय: युद्धरत रहा करते थे। इन्हीं राजाओं के संरक्षण में रहने वाले चारणों और भाटों का राजप्रशस्तिमूलक काव्य वीरगाथा के नाम से अभिहित किया गया। इन वीरगाथाओं को रासो कहा जाता है। इनमें आश्रयदाता राजाओं के शौर्य और पराक्रम का ओजस्वी वर्णन करने के साथ ही उनके प्रेमप्रसंगों का भी उल्लेख है। रासो ग्रन्थों में संघर्ष का कारण प्राय: प्रेम दिखाया गया है। इन रचनाओं में इतिहास और कल्पना का मिश्रण है। रासो वीरगीत (बीसलदेवरासो और आल्हा आदि) और प्रबंधकाव्य (पृथ्वीराजरासो, खुमानरासो आदि) - इन दो रूपों में लिखे गये। इन रासो ग्रन्थों में से अनेक की उपलब्ध प्रतियाँ चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से संदिग्ध हों, पर इन वीरगाथाओं की मौखिक परंपरा अंसदिग्ध है। इनमें शौर्य और प्रेम की ओजस्वी और सरस अभिव्यक्ति हुई है।

इसी कालावधि में मैथिल कोकिल विद्यापति हुए जिनकी पदावली में मानवीय सौंदर्य ओर प्रेम की अनुपम व्यंजना मिलती है। कीर्तिलता और कीर्तिपताका इनके दो अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। अमीर खुसरो का भी यही समय है। इन्होंने ठेठ खड़ी बोली में अनेक पहेलियाँ, मुकरियाँ और दो सखुन रचे हैं। इनके गीतों, दोहों की भाषा ब्रजभाषा है। आदिकालीन कवियों की प्रमुख कृतियों का विवरण प्रस्तुत कर रहें हैं : 1. अब्दुर्रहमान : संदेश रासक 2. नरपति नाल्ह : बीसलदेव रासो (अपभ्रंश हिंदी) 3. चंदबरदायी : पृथ्वीराज रासो (डिंगल-पिंगल हिंदी) 4. दलपति विजय : खुमान रासो (राजस्थानी हिंदी) 5. जगनिक : परमाल रासो 6. शार्गधर : हम्मीर रासो 7. नल्ह सिंह : विजयपाल रासो 8. जल्ह कवि : बुद्धि रासो 9. माधवदास चारण : राम रासो 10. देल्हण : गद्य सुकुमाल रासो 11. श्रीधर : रणमल छंद , पीरीछत रायसा 12. जिनधर्मसूरि : स्थूलिभद्र रास 13. गुलाब कवि : करहिया कौ रायसो 14. शालिभद्रसूरि : भरतेश्वर बाहुअलिरास 15. जोइन्दु : परमात्म प्रकाश 16. केदार : जयचंद प्रकाश 17. मधुकर कवि : जसमयंक चंद्रिका 18. स्वयंभू : पउम चरिउ 19. योगसार

रूसानयधम्म दोहा 20. हरप्रसाद शास्त्री : बौद्धगान और दोहा 21. धनपाल : भवियत्त कहा 22. लक्ष्मीधर : प्राकृत पैंगलम 23. अमीर खुसरो : किस्सा चाहा दरवेश, खालिक बारी 24. विद्यापति : कीर्तिलता, कीर्तिपताका, विद्यापति पदावली (मैथिली)

भक्तिकाल (1375 से 1700 ई.)

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्तव्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञानसंपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोकविमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्ति आंदोलन के रूप में ऐसा भारतव्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्षविधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार सन्तों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचारप्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्यपरंपरा में आने वाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँचनीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को मानने वाले दो भक्तों – कबीर और तुलसी को इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय वल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराणसम्मत कृष्णचरित्र के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीजनवल्लभ, लीलापुरुषोत्तम कृष्ण

का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों प्रतिष्ठा हुई।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिन्दी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ साथ चलीं। निर्गुणमत के दो उपविभाग हुए – ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुणमत भी दो उपधाराओं में प्रवाहित हुआ – रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

ज्ञानश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्मसुधारक और समाज सुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कशाघात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

प्रेमाश्रयी धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं, जिनका 'पदमावत' अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना, कथारस और सहज कलाविन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें सूफी संप्रदायसंगत बातें हैं। इस धारा के अन्य कवि हैं कुतुबन, मंझन, उसमान, शेख नबी और नूर मुहम्मद आदि।

आज की दृष्टि से इस संपूर्ण भक्तिकाव्य का महत्त्व उसकी धार्मिकता से अधिक लोक जीवनगत मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण है। इसी विचार से भक्तिकाल को हिन्दी काव्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

रीतिकाल (1700 से 1900 ई.)

1700 ई. के आस पास हिन्दी कविता में एक नया मोड़ आया। इसे विशेषतः तात्कालिक दरबारी संस्कृति और संस्कृतसाहित्य से उत्तेजना मिली। संस्कृत साहित्यशास्त्र के कतिपय अंशों ने उसे शास्त्रीय अनुशासन की ओर प्रवृत्त किया। हिन्दी में 'रीति' या 'काव्यरीति' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के लिए हुआ था। इसलिए काव्यशास्त्र) सामान्य सृजनप्रवृत्ति और रस, अलंकार आदि के निरूपक बहुसंख्यक लक्षणग्रन्थों को ध्यान में रखते हुए इस समय के काव्य को 'रीतिकाव्य' कहा गया। इस काव्य की श्रृंगारी प्रवृत्तियों की पुरानी परंपरा के

स्पष्ट संकेत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी और हिन्दी के आदिकाव्य तथा कृष्णकाव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों में मिलते हैं।

रीतिकाव्य रचना का आरंभ एक संस्कृतज्ञ ने किया। ये थे आचार्य केशवदास, जिनकी सर्वप्रसिद्ध रचनाएँ कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचंद्रिका हैं। केशव के कई दशक बाद चिन्तामणि से लेकर अठारहवीं सदी तक हिन्दी में रीतिकाव्य का अजस्र तत्त्व प्रवाहित हुआ, जिसमें नर-नारी-जीवन के रमणीय पक्षों और तत्संबंधी सरस संवेदनाओं की अत्यंत कलात्मक अभिव्यक्ति व्यापक रूप में हुई।

रीतिकाल के कवि राजाओं और रईसों के आश्रय में रहते थे। वहाँ मनोरंजन और कलाविलास का वातावरण स्वाभाविक था। बौद्धिक आनंद का मुख्य साधन वहाँ उक्तिवैचित्र्य समझा जाता था। ऐसे वातावरण में लिखा गया साहित्य अधिकतर शृंगार मूलक और कलावैचित्र्य से युक्त था। पर इसी समय प्रेम के स्वच्छंद गायक भी हुए जिन्होंने प्रेम की गहराइयों का स्पर्श किया है। मात्रा और काव्यगुण दोनों ही दृष्टियों से इस समय का नर-नारी-प्रेम और सौंदर्य की मार्मिक व्यंजना करनेवाला काव्यसाहित्य महत्त्वपूर्ण है।

रीतिकाव्य मुख्यत: मांसल शृंगार का काव्य है। इसमें नर-नारीजीवन के स्मरणीय पक्षों का सुंदर उद्घाटन हुआ है। अधिक काव्य मुक्तक शैली में है, पर प्रबंधकाव्य भी हैं। इन दो सौ वर्षों में शृंगार काव्य का अपूर्व उत्कर्ष हुआ। पर धीरे धीरे रीति की जकड़ बढ़ती गई और हिन्दी काव्य का भाव क्षेत्र संकीर्ण होता गया। आधुनिक युग तक आते आते इन दोनों कमियों की ओर साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ।

आधुनिक काल (1900 से अब तक)

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल,

आधुनिक हिंदी पद्य का इतिहास,

आधुनिक हिंदी गद्य का इतिहास

उन्नीसवीं शताब्दी

यह आधुनिक युग का आरंभ काल है जब भारतीयों का यूरोपीय संस्कृति से संपर्क हुआ। भारत में अपनी जड़ें जमाने के काम में अँगरेजी शासन ने भारतीय जीवन को विभिन्न स्तरों पर प्रभावित और आंदोलित किया। नई परिस्थितियों के

धक्के से स्थितिशील जीवनविधि का ढाँचा टूटने लगा। एक नए युग की चेतना का आरंभ हुआ। संघर्ष और सामंजस्य के नए आयाम सामने आए।

नये युग के साहित्यसृजन की सर्वोच्च संभावनाएँ खड़ी बोली गद्य में निहित थीं, इसलिए इसे गद्य-युग भी कहा गया है। हिन्दी का प्राचीन गद्य राजस्थानी, मैथिली और ब्रजभाषा में मिलता है, पर वह साहित्य का व्यापक माध्यम बनने में अशक्त था। खड़ीबोली की परंपरा प्राचीन है। अमीर खुसरो से लेकर मध्यकालीन भूषण तक के काव्य में इसके उदाहरण बिखरे पड़े हैं। खड़ी बोली गद्य के भी पुराने नमूने मिले हैं। इस तरह का बहुत-सा गद्य फारसी और गुरुमुखी लिपि में लिखा गया है। दक्षिण की मुसलमान रियासतों में 'दक्खिनी' के नाम से इसका विकास हुआ। अठारहवीं सदी में लिखा गया रामप्रसाद निरंजनी और दौलतराम का गद्य उपलब्ध है। पर नयी युगचेतना के संवाहक रूप में हिन्दी के खड़ी बोली गद्य का व्यापक प्रसार उन्नीसवीं सदी से ही हुआ। कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में, नवागत अँगरेज अफसरों के उपयोग के लिए, लल्लू लाल तथा सदल मिश्र ने गद्य की पुस्तकें लिखकर हिन्दी के खड़ी बोली गद्य की पूर्वपरंपरा के विकास में कुछ सहायता दी। मुंशी सदासुखलाल और इंशा अल्ला खाँ की गद्य रचनाएँ इसी समय लिखी गई। आगे चलकर प्रेस, पत्रपत्रिकाओं, ईसाई धर्मप्रचारकों तथा नवीन शिक्षा संस्थाओं से हिन्दी गद्य के विकास में सहायता मिली। बंगाल, पंजाब, गुजरात आदि विभिन्न प्रान्तों के निवासियों ने भी इसकी उन्नति और प्रसार में योग दिया। हिन्दी का पहला समाचारपत्र 'उदंत मार्तण्ड' 1826 ई. में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह हिन्दी गद्य के निर्माण और प्रसार में अपने अपने ढंग से सहायक हुए। आर्यसमाज और अन्य सांस्कृतिक आंदोलनों ने भी आधुनिक गद्य को आगे बढ़ाया।

गद्यसाहित्य की विकासमान परंपरा उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से अग्रसर हुई। इसके प्रवर्तक आधुनिक युग के प्रवर्तक और पथप्रदर्शक भारतेंदु हरिश्चंद्र थे जिन्होंने साहित्य का समकालीन जीवन से घनिष्ठ संबंध स्थापित किया। यह संक्रांति और नवजागरण का युग था। अँगरेजों की कूटनीतिक चालों और आर्थिक शोषण से जनता संत्रस्त और क्षुब्ध थी। समाज का एक वर्ग पाश्चात्य संस्कारों से आक्रांत हो रहा था तो दूसरा वर्ग रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। इसी समय नई शिक्षा का आरंभ हुआ और सामाजिक सुधार के आंदोलन चले। नवीन ज्ञान विज्ञान के प्रभाव से नवशिक्षितों में जीवन के प्रति एक नया दृष्टिकोण विकसित

हुआ जो अतीत की अपेक्षा वर्तमान और भविष्य की ओर विशेष उन्मुख था। सामाजिक विकास में उत्पन्न आस्था और जाग्रत समुदाय चेतना ने भारतीयों में जीवन के प्रति नया उत्साह उत्पन्न किया। भारतेंदु के समकालीन साहित्य में विशेषत: गद्य साहित्य में तत्कालीन वैचारिक और भौतिक परिवेश की विभिन्न अवस्थाओं की स्पष्ट और जीवन्त अभिव्यक्ति हुई। इस युग की नवीन रचनाएँ देशभक्ति और समाजसुधार की भावना से परिपूर्ण हैं। अनेक नई परिस्थितियों की टकराहट से राजनीतिक और सामाजिक व्यंग की प्रवृत्ति भी उद्‌बुद्ध हुई। इस समय के गद्य में बोलचाल की सजीवता है। लेखकों के व्यक्तित्त्व से संपृक्त होने के कारण उसमें पर्याप्त रोचकता आ गई है। सबसे अधिक निबंध लिखे गए, जो व्यक्ति प्रधान और विचारप्रधान तथा वर्णनात्मक भी थे। अनेक शैलियों में कथा साहित्य भी लिखा गया, अधिकतर शिक्षाप्रधान। पर यथार्थवादी दृष्टि और नए शिल्प की विशिष्टता श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' में ही है। देवकीनन्दन खत्री का तिलस्मी उपन्यास 'चंद्रकांता' इसी समय प्रकाशित हुआ। पर्याप्त परिमाण में नाटकों और सामाजिक प्रहसनों की रचना हुई। भारतेंदु, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीनिवास दास, आदि प्रमुख नाटककार हैं। साथ ही भक्ति और शृंगार की बहुत सी सरस कविताएँ भी निर्मित हुई। पर जिन कविताओं में सामाजिक भावों की अभिव्यक्ति हुई वे ही नये युग की सृजनशीलता का आरंभिक आभास देती हैं। खड़ी बोली के छिट फुट प्रयोगों को छोड़ शेष कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी गयीं। वास्तव में नया युग इस समय के गद्य में ही अधिक प्रतिफलित हो सका।

बीसवीं शताब्दी

इस कालावधि की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाएँ दो हैं – एक तो सामान्य काव्य भाषा के रूप में खड़ी बोली की स्वीकृति और दूसरे हिन्दी गद्य का नियमन और परिमार्जन। इस कार्य में सर्वाधिक सशक्त योग सरस्वती संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी का था। द्विवेदी जी और उनके सहकर्मियों ने हिन्दी गद्य की अभिव्यक्तिक्षमता को विकसित किया। निबंध के क्षेत्र में द्विवेदी जी के अतिरिक्त बालमुकुंद, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, पूर्णसिंह, पद्‌मसिंह शर्मा जैसे एक से एक सावधान, सशक्त और जीवंत गद्य शैलीकार सामने आए। उपन्यास अनेक लिखे गए पर उसकी यथार्थवादी परंपरा का उल्लेखनीय विकास न हो सका। यथार्थपरक आधुनिक कहानियाँ इसी काल में जनमी और विकासमान हुई। गुलेरी, कौशिक आदि के अतिरिक्त प्रेमचंद और प्रसाद की भी आरंभिक

कहानियाँ इसी समय प्रकाश में आई। नाटक का क्षेत्र अवश्य सूना-सा रहा। इस समय के सबसे प्रभावशाली समीक्षक द्विवेदी जी थे, जिनकी संशोधनवादी और मर्यादानिष्ठ आलोचना ने अनेक समकालीन साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया। मिश्रबंधु, कृष्णबिहारी मिश्र और पद्मसिंह शर्मा इस समय के अन्य समीक्षक हैं पर कुल मिलाकर इस समय की समीक्षा बाह्यपक्षप्रधान ही रही।

सुधारवादी आदर्शों से प्रेरित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने 'प्रियप्रवास' में राधा का लोकसेविका रूप प्रस्तुत किया और खड़ीबोली के विभिन्न रूपों के प्रयोग में निपुणता भी प्रदर्शित की। मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' में राष्ट्रीयता और समाजसुधार का स्वर ऊँचा किया और 'साकेत' में उर्मिला की प्रतिष्ठा की। इस समय के अन्य कवि द्विवेदी जी, श्रीधर पाठक, बालमुकुंद गुप्त, नाथूराम शर्मा 'शंकर' गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि हैं। ब्रजभाषा काव्यपरंपरा के प्रतिनिधि रत्नाकर और सत्यनारायण कविरत्न हैं। इस समय खड़ी बोली काव्यभाषा के परिमार्जन और सामयिक परिवेश के अनुरूप रचना का कार्य संपन्न हुआ। नए काव्य का अधिकांश विचारपरक और वर्णनात्मक है।

सन् 1920-40 के दो दशकों में आधुनिक साहित्य के अंतर्गत वैचारिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का अनेक रूप उत्कर्ष दिखाई पड़ा। सर्वाधिक लोकप्रियता उपन्यास और कहानी को मिली। कथासाहित्य में घटनावैचित्य की जगह जीते जागते स्मरणीय चरित्रों की सृष्टि हुई। निम्न और मध्यवर्गीय समाज के यथार्थपरक चित्र व्यापक रूप में प्रस्तुत किए गए। वर्णन की सजीव शैलियों का विकास हुआ। इस समय के सर्वप्रमुख कथाकार प्रेमचंद हैं। वृंदावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यास भी उल्लेख्य है। हिन्दी नाटक इस समय जयशंकर प्रसाद के साथ सृजन के नवीन स्तर पर आरोहण करता है। उनके रोमांटिक ऐतिहासिक नाटक अपनी जीवंत चारित्र्यसृष्टि, नाटकीय संघर्षों की योजना और संवेदनीयता के कारण विशेष महत्त्व के अधिकारी हुए। कई अन्य नाटककार भी सक्रिय दिखाई पड़े। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में रामचंद्र शुक्ल ने सूर, तुलसी और जायसी की सूक्ष्म भावस्थितियों और कलात्मक विशेषताओं का मार्मिक उद्घाटन किया और साहित्य के सामाजिक मूल्यों पर बल दिया। अन्य आलोचक है श्री नंददुलारे वाजपेयी, डा. नगेंद्र तथा डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी।

काव्य के क्षेत्र में यह छायावाद के विकास का युग है। पूर्ववर्ती काव्य वस्तुनिष्ठ था, छायावादी काव्य भावनिष्ठ है। इसमें व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का प्राधान्य है। स्थूल वर्णन विवरण के स्थान पर छायावादी काव्य में व्यक्ति की

स्वच्छंद भावनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति हुई। स्थूल तथ्य और वस्तु की अपेक्षा बिंबविधायक कल्पना छायावादियों को अधिक प्रिय है। उनकी सौंदर्यचेतना विशेष विकसित है। प्रकृतिसौंदर्य ने उन्हें विशेष आकृष्ट किया। वैयक्तिक संवेगों की प्रमुखता के कारण छायावादी काव्य मूलतः प्रगीतात्मक है। इस समय खड़ी बोली काव्यभाषा की अभिव्यक्तिक्षमता का अपूर्व विकास हुआ। जयशंकर प्रसाद, माखनलाल, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' महादेवी, नवीन और दिनकर छायावाद के उत्कृष्ट कवि हैं।

सन् 1940 के बाद छायावाद की संवेगनिष्ठ, सौंदर्यमूलक और कल्पनाप्रिय व्यक्तिवाद प्रवृत्तियों के विरोध में प्रगतिवाद का संघबद्ध आंदोलन चला जिसकी दृष्टि समाजबद्ध, यथार्थवादी और उपयोगितावादी है। सामाजिक वैषम्य और वर्गसंघर्ष का भाव इसमें विशेष मुखर हुआ। इसने साहित्य को सामाजिक क्रांति के अस्त्र के रूप में ग्रहण किया। अपनी उपयोगितावादी दृष्टि की सीमाओं के कारण प्रगतिवादी साहित्य, विशेषतः कविता में कलात्मक उत्कर्ष की संभावनाएँ अधिक नहीं थीं, फिर भी उसने साहित्य के सामाजिक पक्ष पर बल देकर एक नई चेतना जाग्रत की।

प्रगतिवादी आंदोलन के आरंभ के कुछ ही बाद नए मनोविज्ञान या मनोविश्लेषणशास्त्र से प्रभावित एक और व्यक्तिवादी प्रवृत्ति साहित्य के क्षेत्र में सक्रिय हुई थी जिसे सन् 1943 के बाद प्रयोगवाद नाम दिया गया। इसी का संशोधित रूप वर्तमानकालीन नई कविता और नई कहानियाँ हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि द्वितीय महायुद्ध और उसके उत्तरकालीन साहित्य में जीवन की विभीषिका, कुरूपता और असंगतियों के प्रति अंसतोष तथा क्षोभ ने कुछ आगे पीछे दो प्रकार की प्रवृत्तियों को जन्म दिया। एक का नाम प्रगतिवाद है, जो मार्क्स के भौतिकवादी जीवनदर्शन से प्रेरणा लेकर चलाय दूसरा प्रयोगवाद है, जिसने परंपरागत आदर्शों और संस्थाओं के प्रति अपने अंसतोष की तीव्र प्रतिक्रियाओं को साहित्य के नवीन रूपगत प्रयोगों के माध्यम से व्यक्त किया। इस पर नए मनोविज्ञान का गहरा प्रभाव पड़ा।

प्रगतिवाद से प्रभावित कथाकारों में यशपाल, उपेंद्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर और नागार्जुन आदि विशिष्ट हैं। आलोचकों में रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, विजयदेव नारायण साही प्रमुख हैं। कवियों में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, रांगेय राघव, शिवमंगल सिंह 'सुमन' आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। निबन्ध विधा में इस दौर में आछार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, विद्या निवास मिश्र और कुबेरनाथ राय ने विशेष ख्याति अर्जित की।

नए मनोविज्ञान से प्रभावित प्रयोगों के लिए सचेष्ट कथाकारों में अज्ञेय प्रमुख हैं। मनोविज्ञान से गंभीर रूप में प्रभावित इलाचंद्र जोशी और जैनेंद्र हैं। इन लेखकों ने व्यक्तिमन के अवचेतन का उद्घाटन कर नया नैतिक बोध जगाने का प्रयत्न किया। जैनेंद्र और अज्ञेय ने कथा के परंपरागत ढाँचे को तोड़कर शैलीशिल्प संबंधी नए प्रयोग किए। परवर्ती लेखकों और कवियों में वैयक्तिक प्रतिक्रियाएँ अधिक प्रखर हुई। समकालीन परिवेश से वे पूर्णत: संसक्त हैं। उन्होंने समाज और साहित्य की मान्यताओं पर गहरा प्रश्नचिह्न लगा दिया है। व्यक्ति जीवन की लाचारी, कुंठा, आक्रोश आदि व्यक्त करने के साथ ही वे वैयक्तिक स्तर पर नए जीवनमूल्यों के अन्वेषण में लगे हुए हैं। उनकी रचनाओं में एक ओर सार्वभौम संत्रस और विभीषिका की छटपटाहट है तो दूसरी ओर व्यक्ति के अस्तित्त्व की अनिवार्यता और जीवन की संभावनाओं को रेखांकित करने का उपक्रम भी। हमारा समकालीन साहित्य आत्यंतिक व्यक्तिवाद से ग्रस्त है और यह उसकी सीमा है। पर उसका सबसे बड़ा बल उसकी जीवनमयता है, जिसमें भविष्य की सशक्त संभावनाएँ निहित हैं।

हिन्दी एवं उसके साहित्य का इतिहास

750 ईसा पूर्व – संस्कृत का वैदिक संस्कृत के बाद का क्रमबद्ध विकास।

500 ईसा पूर्व – बौद्ध तथा जैन की भाषा प्राकृत का विकास (पूर्वी भारत)। 400 ईसा पूर्व – पाणिनि ने संस्कृत व्याकरण लिखा (पश्चिमी भारत)। वैदिक संस्कृत से पाणिनि की काव्य संस्कृत का मानकीकरण।

ब्राह्मी लिपि का विकास

पाँचवीं सदी ईसा पूर्व से पहले–भारत में ब्राह्मी लिपि का विकास।

पाँचवीं सदी ई.पू. से 350ई. ब्राह्मी लिपि का ज्ञात प्रयोग काल।

320 ई. (के आसपास –ब्राह्मी लिपि से गुप्त लिपि का विकास।

छठी सदी ईस्वी –सिद्धमात्रिका लिपि का गुप्त लिपि की पश्चिमी शाखा की पूर्वी उपशाखा से विकास। इसे न्यूनकोणीय लिपि भी कहा गया है।

अपभ्रंश तथा आदि-हिन्दी का विकास

प्रथम सदी ई.पू. 5वीं सदी ई. – कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' में अपभ्रंश का प्रयोग किया।

550ई.–वल्लभी के दर्शन में अपभ्रंश का प्रयोग।

769–सिद्ध सरहपाद (जिन्हें कई लोग हिन्दी का पहला कवि मानते हैं) ने 'दोहाकोश' लिखा।

779–उद्योतन सूरि की 'कुवलयमाला' में अपभ्रंश का प्रयोग।

800–संस्कृत में बहुत सी रचनाएँ लिखी गयीं।

933–देवसेन की 'सावयधम्म दोहा' (श्रावकधर्म दोहा या श्रावकाचार) ऽकुछ लोग इसे भी हिन्दी की पहली पुस्तक मानते हैं ।

1100–आधुनिक देवनागरी लिपि का प्रथम स्वरूप।

1145-1229-हेमचंद्राचार्य ने सिद्ध हेम शब्दानुशासन नामक अपभ्रंश-व्याकरण की रचना की।

अपभ्रंश का अस्त तथा आधुनिक हिन्दी का विकास

1184 ई.–शालिभद्र सूरि रचित भरतेश्वर बाहुबलि रास 205 छंदों का आकार में छोटा परंतु शब्द-चयन एवं भाव सभी दृष्टियों से अत्यंत उत्तम काव्य है। पुष्ट तर्कों से यही हिंदी की पहली रचना सिद्ध होती है।

1253-1325–अमीर खुसरो की पहेलियों तथा मुकरियों में 'हिन्दवी' शब्द का सर्वप्रथम उपयोग।

1370–'हंसाउली' (हंसावली) के कवि असाइत ने प्रेम कथाओं की शुरुआत की।

1399-1512–कबीर की रचनाओं ने निर्गुण भक्ति की नींव रखी।

1400-1479–अपभ्रंश के आखिरी महान् कवि रइधू।

1450–रामानन्द के साथ 'सगुण भक्ति' की शुरुआत।

1580–शुरुआती दक्खिनी का कार्य 'कालमितुल हकायतष्कृबुरहानुद्दीन जानम द्वारा।

1585–नाभादास ने 'भक्तमाल' लिखी।

1601–बनारसीदास ने हिन्दी की पहली आत्मकथा 'अर्ध कथानक' लिखी।

1604–गुरु अर्जुन देव ने कई कवियों की रचनाओं का संकलन 'आदि ग्रन्थ' निकाला।

1532-1623–गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' की रचना की।

1623–जटमल ने 'गोरा बादल री बात' (कुछ लोगों के विचार से खड़ी बोली की पहली रचना) लिखी।

1643–आचार्य केशव दास ने 'रीति' के द्वारा काव्य की शुरुआत की।

1645–उर्दू का आरंभ

आधुनिक हिन्दी

1796–देवनागरी रचनाओं की शुरुआती छपाई।

1826–'उदन्त मार्तण्ड' हिन्दी का पहला साप्ताहिक।

1837–ओम् जय जगदीश के रचयिता श्रद्धाराम फुल्लौरी का जन्म।

1868–राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' का लिपि सम्बन्धी प्रतिवेदन – फारसी लिपि के स्थान पर नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के लिए पहला प्रयास राजा शिवप्रसाद का उनके लिपि सम्बन्धी प्रतिवेदन कोर्ट कैरेक्टर इन द अपर प्रोविन्स ऑफ इंडिया से आरम्भ हुआ।

1877–अयोध्या प्रसाद खत्री का हिन्दी व्याकरण, (बिहार बन्धु प्रेस)

1881–वर्ष 1881 ई. तक आते-आते उत्तर प्रदेश के पड़ोसी प्रान्तों बिहार, मध्य प्रदेश में नागरी लिपि और हिन्दी प्रयोग की सरकारी आज्ञा जारी हो गई तो उत्तर प्रदेश में नागरी आंदोलन को बड़ा नैतिक प्रोत्साहन मिला।

1893–काशी नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना।

1 मई 1910-नागरी प्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना हुई।

1950–हिन्दी भारत की राजभाषा के रूप में स्थापित।

10-14 जनवरी 1975 - नागपुर में प्रथम विश्व हिन्दी सम्मेलन आयोजित

दिसम्बर, 1993–मॉरीशस में चतुर्थ विश्व हिन्दी सम्मेलन तथा उसके बाद विश्व हिन्दी सचिवालय की स्थापना।

1997–वर्धा में महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय की स्थापना का अधिनियम संसद द्वारा पारित।

2000–आधुनिक हिंदी का अनतरराष्ट्रीय विकास।

हिंदी-कवियों का एक वृत्त-संग्रह ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने सन् 1883 ई. में प्रस्तुत किया था। उसके पीछे सन् 1889 में डाक्टर (अब सर) ग्रियर्सन ने 'माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर अव नार्दर्न हिंदुस्तान' के नाम से एक वैसा ही बड़ा

कवि-वृत्त-संग्रह निकाला। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा का ध्यान आरंभ ही में इस बात की ओर गया कि सहस्रों हस्तलिखित-हिंदी-पुस्तके देश के अनेक भागों में राज-पुस्तकालयों तथा लोगों के घरों में अज्ञात पड़ी हैं। अत: सरकार की आर्थिक सहायता से उसने सन् 1900 से पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया और सन् 1913 तक अपनी खोज की आठ रिपोर्टों में सैकड़ों अज्ञात कवियों तथा ज्ञात कवियों के अज्ञात ग्रंथों का पता लगाया। सन् 1913 में इस सारी सामग्री का उपयोग करके मिश्रबंधुओं (श्रीयुत पं. श्यामबिहारी मिश्र आदि) ने अपना बड़ा भारी कवि-वृत्त-संग्रह 'मिश्रबंधु-विनोद' जिसमें वर्तमान काल के कवियों और लेखको का भी समावेश किया गया, तीन भागों में प्रकाशित किया।

इधर जब से विश्वविद्यालयों में हिंदी की उच्च शिक्षा का विधान हुआ तब से उसके साहित्य के विचार-शृंखला-बद्ध इतिहास की आवश्यकता का अनुभव छात्र और अध्यापक दोनो कर रहे थे। शिक्षित जनता की जिन जिन प्रवृत्तियों के अनुसार हमारे साहित्य के स्वरूप में जो जो परिवर्तन होते आए हैं, जिन जिन प्रभावों की प्रेरणा से काव्यधारा की भिन्न भिन्न शाखाएँ फूटती रही हैं, उन सब के सम्यक् निरूपण तथा उनकी दृष्टि से किए हुए सुसंगत काल-विभाग के बिना साहित्य के इतिहास का सच्चा अध्ययन कठिन दिखाई पड़ता था। सात आठ सौ वर्षों की संचित ग्रंथराशि सामने लगी हुई थीय पर ऐसी निर्दिष्ट सरणियों की उद्भावना नहीं हुई थी, जिनके अनुसार सुगमता से इस प्रभूत सामग्री का वर्गीकरण होता। भिन्न भिन्न शाखायों के हजारों कवियो की केवल कालक्रम से गुथी उपर्युक्त वृत्तमालाएँ साहित्य के इतिहास के अध्ययन में कहाँ तक सहायता पहुँचा सकती थी? सारे रचना-काल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूंदकर बाँट देना--यह भी न देखना कि किस खंड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं--किसी वृत्त-संग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।

पाँच या छ: वर्ष हुए, छात्रों के उपयोग के लिये मैंने कुछ संक्षिप्त नोट तैयार किए थे। जिनसे परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जन-समूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिंदी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाग और रचना की भिन्न-भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक कच्चा ढाँचा खड़ा किया गया था। 'हिंदी शब्द-सागर' समाप्त हो जाने पर उसकी भूमिका के रूप में भाषा और साहित्य का विकास देना भी स्थिर किया गया अत: एक नियत समय के भीतर ही यह इतिहास लिखकर पूरा करना पड़ा। साहित्य का इतिहास लिखने के लिये जितनी अधिक सामग्री मैं जरुरी समझता था उतनी तो उस अवधि के भीतर न

इकट्ठी हो सकी, पर जहाँ तक हो सका आवश्यक उपादान सामने रखकर यह कार्य पूरा किया।

इस पुस्तक में जिस पद्धति का अनुसरण किया गया है उसका थोड़े में उल्लेख कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

पहले काल-विभाग को लीजिए। जिस काल-खंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्ही रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है । इस प्रकार प्रत्येक काल का एक निर्दिष्ट सामान्य लक्षण बताया जा सकता है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी (एक) ढंग की रचना को ले वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगीय यह नहीं कि और सब ढंगों की रचनाएँ मिलकर भी उसके बराबर न होगी। जैसे, यदि किसी काल में पाँच ढंग की रचनाएँ 10,5,6,7 और 2 के क्रम से मिलती है तो जिस ढंग की रचना की 10 पुस्तके हैं उसकी प्रचुरता कही जायगी, यद्यपि शेष और ढंग की सब पुस्तकें मिलकर 20 हैं। यह तो हुई पहली बात। दूसरी बात है ग्रंथों की प्रसिद्धि। किसी काल के भीतर जिस एक ही ढंग के बहुत अधिक ग्रंथ प्रसिद्ध चले आते हैं उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अंतर्गत मानी जायगी, चाहे और दूसरे-दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत सी पुस्तके भी इधर-उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करे। प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक-प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है। सारांश यह कि इन दोनों बातों की ओर ध्यान रखकर काल-विभाग का नामकरण किया है।

आदिकाल का नाम मैंने 'वीरगाथा-काल' रखा है। उक्त काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएँ मिलती है अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनो के धर्म-तत्त्व-निरूपण-सबंधी है जो साहित्य-कोटि में नहीं आती और जिनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिये ही किया गया है कि अपभ्रंश भाषा का व्यवहार कब से हो रहा था। साहित्य-कोटि में आने वाली रचनाओं में कुछ तो भिन्न भिन्न विषयों पर फुटकल दोहे है। जिनके अनुसार उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती। साहित्यिक पुस्तकें केवल चार हैं-

1. विजयपाल रासो
2. हम्मीर रासो

3. कीर्तिलता
4. कीर्तिपताका

देशभाषा-काव्य की आठ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं–

1. खुमान रासो
2. वीसलदेव रासो
3. पृथ्वीराज रासो
4. जयचदं-प्रकाश
5. जयमयंक-जस-चंद्रिका
6. परमाल रासो (आल्हा का मूलरूप)
7. खुसरो की पहेलियाँ आदि
8. विद्यापति-पदावली।

इन्ही बारह पुस्तकों की दृष्टि से 'आदिकाल' का लक्षण-निरूपण और नामकरण हो सकता है। इनमे से अंतिम दो तथा बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रंथ वीरगाथात्मक ही हैं। अतः आदिकाल का नाम 'वीरगाथा-काल' ही रखा जा सकता है। जिस सामाजिक या राजनीतिक परिस्थिति की प्रेरणा से वीरगाथाओं की प्रवृत्ति रही है उसका सम्यक् निरूपण पुस्तक में कर दिया गया है।

मिश्रबंधुओं ने इस 'आदिकाल' के भीतर इतनी पुस्तकों की और नामावली दी है-

1. भगवद्गीता
2. वृद्ध नवकार
3. वर्त्तमाल
4. समतसार
5. पत्तलि
6. अनन्य योग
7. रैवतगिरि रासा
8. नेमिनाथ चउपई
9. उवएस-माला (उपदेशमाला)

इनमें से नं0 1 तो पीछे की रचना है, जैसा कि उसकी इस भाषा से स्पष्ट है–

'तेहि दिन कथा कीन मन लाई। हरि के नाम गीत चित आई ॥
सुमिरौं गुरु गोविंद के पाऊँ। अगम अपार है जाकर नाऊँ॥

जो वीररस की पुरानी परिपाटी के अनुसार कहीं वर्णों का द्वित्व देखकर प्राकृत भाषा और कहीं चौपाई देखकर ही अवधी या बैसवाड़ी समझते हैं, जो भाव को 'थाट' और विचार को 'फीलिंग' कहते हैं, वे यदि उद्धृत पद्यों को संवत् 1000 के क्या संवत् 500 के भी बताएँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। पुस्तक की संवत्-सूचक पंक्ति का यह गड़बड़ पाठ ही सावधान करने के लिये काफी है--'सहस्र सो संपूरन जाना।

अब रहीं शेष नौ पुस्तकें उनमें नं0 2, 7, 9 और 10 जैनधर्म के तत्त्व निरूपण पर हैं और साहित्य-कोटि में नहीं आ सकतीं। नं0 6 योग की पुस्तक है। नं0 3 और नं0 4 केवल नोटिस मात्र है, विषयों का कुछ भी विवरण नहीं है। इस प्रकार केवल दो साहित्यिक पुस्तकें बचीं जो वर्णनात्मक (डेस्क्रिप्टिव) हैं-एक में नंद के ज्योनार का वर्णन है, दूसरी में गुजरात के रैवतक पर्वत का। अतः इन पुस्तकों की नामावली से मेरे निश्चय में किसी प्रकार का अतर नहीं पड़ सकता। यदि ये भिन्न भिन्न प्रकार की 9 पुस्तके साहित्यिक भी होती तो भी मेरे नामकरण में कोई बाधा नहीं डाल सकती थीं, क्योंकि मैने 9 प्रसिद्ध वीरगाथात्मक पुस्तकों का उल्लेख किया है।

एक ही काल और एक ही कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार की परंपराएँ चली हुई पाई गई है वहाँ अलग शाखाएँ करके सामग्री का विभाग किया गया है। जैसे, भक्तिकाल के भीतर पहले तो दो काव्य-धाराएँ-निर्गुण धारा और सगुण धाराकृनिर्दिष्ट की गई है। फिर प्रत्येक धारा की दो दो शाखाएँ स्पष्ट रूप से लक्षित हुई हैं-निर्गुण धारा की ज्ञानाश्रयी और प्रेममार्गी (सूफी) शाखा तथा सगुण धारा की रामभक्ति और कृष्ण-भक्ति शाखा। इन धाराओं और शाखाओं की प्रतिष्ठा यों ही मनमाने ढंग पर नहीं की गई है। उनकी एक दूसरी से अलग करने वाली विशेषताएँ अच्छी तरह दिखाई भी गई हैं और देखते ही ध्यान में आ भी जायँगी।

रीति-काल के भीतर रीतिबद्ध रचना की जो परंपरा चली है उसका उप-विभाग करने का कोई संगत आधार मुझे नहीं मिला। रचना के स्वरूप आदि में कोई स्पष्ट भेद निरूपित किए बिना विभाग कैसे किया जा सकता है? किसी काल-विस्तार को लेकर यों ही पूर्व और उत्तर नाम देकर दो हिस्से कर डालना ऐतिहासिक विभाग नहीं कहला सकता। जब तक पूर्व और उत्तर के अलग अलग

लक्षण न बताए जायँगे तब तक इस प्रकार के विभाग का कोई अर्थ नहीं। इसी प्रकार थोडे थोड़े अंतर पर होने वाले कुछ प्रसिद्ध कवियों के नाम पर अनेक काल बाँध चलने के पहले यह दिखाना आवश्यक है कि प्रत्येक काल-प्रवर्तक कवि का यह प्रभाव उनके काल में होने वाले सब कवियों में सामान्य रूप से पाया जाता है। विभाग का कोई पुष्ट आधार होना चाहिए।

रीतिबद्ध ग्रथो की बहुत गहरी छानबीन और सूक्ष्म पर्यलोचना करने पर आगे चलकर शायद विभाग का कोई आधार मिल जाय, पर अभी तक मुझे नहीं मिला है।

रीति-काल के संबंध में दो बाते और कहनी हैं। इस काल के कवियों के परिचयात्मक वृत्तो की छानबीन में मै अधिक नहीं प्रवृत्त हुआ हैं, क्योंकि मेरा उद्देश्य अपने साहित्य के इतिहास का एक पक्का और व्यवस्थित ढाँचा खड़ा करना था, न कि कवि-कीर्त्तन करना। अतः कवियों के परिचयात्मक विवरण मैने प्रायः मिश्रबंधु-विनोद से ही लिए हैं। कही कहीं कुछ कवियों के विवरणो में परिवर्धन और परिष्कार भी किया है, जैसे, ठाकुर, दीनदयाल गिरि, रामसहाय और रसिक-गोविंद के विवरणों में। यदि कुछ कवियों के नाम छूट गए या किसी कवि की किसी मिली हुई पुस्तक का उल्लेख नहीं हुआ तो इसमें मेरी कोई बड़ी उद्देश्य हानि नहीं हुई। इस काल के भीतर मैने जितने कवि लिए हैं या जितने ग्रथो के नाम दिए हैं उतने ही जरूरत से ज्यादा मालूम हो रहे है।

रीतिकाल या और किसी काल के कवियो की साहित्यिक विशेषता के सबंध में मैने जो संक्षिप्त विचार प्रकट किए है, वे दिग्दर्शन मात्र के लिये। इतिहास की पुस्तक में किसी कवि की पूरी क्या अधूरी आलोचना भी नहीं आ सकती है किसी कवि की आलोचना लिखनी होगी तो स्वतंत्र प्रबंध या पुस्तक के रूप में लिखूँगा। बहुत प्रसिद्ध कवियों के संबंध में ही थोड़ा विस्तार के साथ लिखना पडा है। पर वहाँ भी विशेष विशेष प्रवृत्तियों का ही निर्धारण किया गया है। यह अवश्य है कि उनमें से कुछ प्रवृत्तियो को मैंने रसोपयोगी और कुछ को बाधक कहा है।

आधुनिक काल में गद्य का आविर्भाव सबसे प्रधान साहित्यिक घटना है। इसलिये उसके प्रसार का वर्णन विशेष विस्तार के साथ करना पडा है। इस थोड़े से काल के बीच हमारे साहित्य के भीतर जितनी अनेकरूपता का विकास हुआ है उतनी अनेकरूपता का विधान कभी नहीं हुआ था। पहले मेरा विचार आधुनिक काल को 'द्वितीय उत्थान' के आरंभ तक लाकर उसके आगे, की प्रवृत्तियों का

सामान्य और संक्षिप्त उल्लेख करके ही छोड़ देने का था, क्योंकि वर्तमान लेखकों और कवियों के संबंध में कुछ लिखना अपने सिर एक बला मोल लेना ही समझ पड़ता था। पर जी न माना। वर्तमान सहयोगियों तथा उनकी अमूल्य कृतियों का उल्लेख भी थोड़े बहुत विवेचन के साथ डरते डरते किया गया।

वर्तमान काल के अनेक प्रतिभा-संपन्न और प्रभावशाली लेखकों और कवियों के नाम जल्दी में या भूल से छूट गए होंगे। इसके लिये उनसे-तथा उनसे भी अधिक उनकी कृतियों से विशेष रूप में परिचित महानुभावों से क्षमा की प्रार्थना है। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह पुस्तक जल्दी में तैयार करनी पड़ी है इससे इसका जो रूप में रखना चाहता था वह भी इसे पूरा पूरा नहीं प्राप्त हो सका है। कवियों और लेखकों के नामोल्लेख के संबंध में एक बात का निवेदन और है। इस पुस्तक का उद्देश्य संग्रह नहीं था। इससे आधुनिक काल के अंतर्गत सामान्य लक्षणों और प्रवृत्तियों के वर्णन की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है, अगले सस्करण में इस काल का प्रसार कुछ और अधिक हो सकता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिंदी-साहित्य का यह इतिहास 'हिंदी-शब्दसागर' की भूमिका के रूप में 'हिंदी-साहित्य का विकास' के नाम से सन् 1929 के जनवरी महीने में निकल चुका है। इस अलग पुस्तकाकार, सस्करण में बहुत सी बातें बढ़ाई गई हैं-विशेषत: आदि और अंत में। आदि काल के भीतर अपभ्रंश की रचनाए भी ले ली गई है क्योंकि वे सदा से 'भाषा-काव्य' के अंतर्गत ही मानी जाती रही हैं। कवि परंपरा के बीच प्रचलित जनश्रुति कई ऐसे प्राचीन भाषा काव्यों के नाम गिनाती चली आई है जो अपभ्रश में हैं--जैसे, कुमारपालचरित और 'ा्गिधर-कृत हम्मीररासो। 'हम्मीररासो' का पता नहीं है। पर 'प्राकृत पिंगल सूत्र' उलटते-पुलटते मुझे हम्मीर के युद्धो के वर्णन- वाले कई बहुत ही ओजस्वी पद्य, छंदों के उदाहरण में, मिले। मुझे पूर्ण निश्चय हो गया है कि ये पद्य गांगाधर के प्रसिद्ध 'हम्मीररासो' के ही है।

आधुनिक काल के अत में वर्तमान काल की कुछ विशेष प्रवृत्तियों के,

वर्णन को थोड़ा और पल्लवित इसलिये करना पड़ा, जिसमें उन प्रवृत्तियों के मूल का ठीक ठीक पता केवल हिंदी पढ़ने वालों को भी हो जाय और वे धोखे में न रहकर स्वतंत्र विचार में समर्थ हों।

मिश्रबंधुओं के प्रकांड कवित्त-संग्रह 'मिश्रबंधु-विनोद' का उल्लेख हो चुका है। 'रीतिकाल' के कवियों के परिचय लिखने में मैंने प्राय: उक्त ग्रंथ से ही विवरण लिए हैं अत: आधुनिक शिष्टता के अनुसार उसके उत्साही और

परिश्रमी संकलन-कर्त्ताओ को धन्यवाद देना मैं बहुत जरूरी समझता हूँ। हिंदी पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट भी मुझे समय समय पर-विशेषत: संदेह के स्थल आने पर--उलटनी पड़ी है। राय साहब बाबू 'यामसुंदरदास बी. ए. की 'हिंदी-कोविद्-रत्नमाला' श्रीयुक्त पं0 रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' तथा श्रीवियोगीहरि जी के 'ब्रजमाधुरी सार' से भी बहुत कुछ सामग्री मिली है, अत: उक्त तीनो महानुभावों के प्रति मै अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। 'आधुनिक काल' के प्रारंभिक प्रकरण लिखते समय जिस कठिनता का सामना करना पड़ा उसमें मेरे बड़े पुराने मित्र पं. केदारनाथ पाठक ही काम आए। पर न आज तक मैंने उन्हें किसी बात के लिये धन्यवाद दिया है, न अब देने की हिम्मत कर सकता हूँ। 'धन्यवाद' को वे 'आजकल की एक बदमाशी' समझते हैं।

इस कार्य में मुझसे जो भूलें हुई हैं उनके सुधार की, जो त्रुटियाँ रह गई हे उनकी पूर्ति की और जो अपराध बन पड़े है उनकी क्षमा की पूरी आशा करके ही मैं अपने श्रम से कुछ संतोष-लाभ कर सकता हूँ।

2

वैदिक संस्कृत

वैदिक संस्कृत 2000 ईसापूर्व (या उस से भी पहले) से लेकर 600 ईसापूर्व तक बोली जाने वाली एक हिन्द-आर्य भाषा थी। यह संस्कृत की पूर्वज भाषा थी और आदिम हिन्द-ईरानी भाषा की बहुत ही निकट की संतान थी। उस समय फारसी और संस्कृत का विभाजन बहुत नया था, इसलिए वैदिक संस्कृत और अवस्ताई भाषा (प्राचीनतम ज्ञात ईरानी भाषा) एक-दूसरे के बहुत करीब हैं। वैदिक संस्कृत हिन्द-यूरोपीय भाषा-परिवार की हिन्द-ईरानी भाषा शाखा की सब से प्राचीन प्रमाणित भाषा है।

हिन्दुओं के प्राचीन वेद धर्मग्रन्थ वैदिक संस्कृत में लिखे गए हैं। भारतीय उपमहाद्वीप में श्रौत जैसे सखत नियमित ध्वनियों वाले मंत्रोच्चारण की हजारों वर्षों पुरानी परम्परा के कारण वैदिक संस्कृत के शब्द और उच्चारण इस क्षेत्र में लिखाई आरम्भ होने से बहुत पहले से सुरक्षित हैं। वेदों के अध्ययन से देखा गया है कि वैदिक संस्कृत भी सैंकड़ों सालों के काल में बदलती गई। ऋग्वेद की वैदिक संस्कृत, जिसे ऋग्वैदिक संस्कृत कहा जाता है, सब से प्राचीन रूप है। पाणिनि के नियमिकरण के बाद की शास्त्रीय संस्कृत और वैदिक संस्कृत में काफी अंतर है इसलिए वेदों को मूल रूप में पढ़ने के लिए संस्कृत ही सीखना पार्याप्त नहीं बल्कि वैदिक संस्कृत भी सीखनी पढ़ती है। अवस्ताई फारसी सीखने वाले विद्वानों को भी वैदिक संस्कृत सीखनी पड़ती है क्योंकि अवस्तई ग्रन्थ कम बचे हैं और वैदिक सीखने से उस भाषा का भी अधिक विस्तृत बोध मिल जाता है।

लौकिक संस्कृत का वैदिक संस्कृत से भेद

लौकिक संस्कृत-साहित्य का वैदिक साहित्य से अनेक प्रकार का भेद पाया जाता है। वैदिक साहित्य शुद्धतः धार्मिक है तथा इसमें सभी लौकिक तत्त्वों का बीज समाहित है। लौकिक संस्कृत साहित्य प्रधान रूप से धार्मिक-धर्ममनिरपेक्ष है अथवा धर्म में इसे लोक-परलोक से ही सम्बन्धित कहा जा सकता है। इस साहित्य में महाकाव्य (रामायण एवं महाभारत), पुराण एवं अन्य काव्य (जिनमें गद्यकाव्य भी सम्मिलित हैं) नाटक, अलंकारशास्त्र, दर्शन, सूत्र, विधि अथवा नियम, कला, वास्तुशास्त्र, औषधि (आयुर्वेद), गणित, मशीन, उद्योग सम्बन्धी ग्रंथ और अन्य विभिन्न विद्याओं की शाखाएँ भी प्राप्त होती हैं।

लौकिक साहित्य की भाषा तथा वैदिक साहित्य की भाषा में भी अन्तर पाया जाता है। दोनों के शब्दरूप तथा धातुरूप अनेक प्रकार से भिन्न हैं। वैदिक संस्कृत के रूप केवल भिन्न ही नहीं हैं अपितु अनेक भी हैं, विशिष्टतया वे रूप जो क्रिया रूपों तथा धातुओं के स्वरूप से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध में दोनों साहित्यों की कुछ महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) शब्दरूप की दृष्टि से - उदाहरणार्थ, लौकिक संस्कृत में केवल ऐसे रूप बनते हैं जैसे देवाः जनाः (प्रथम विभक्ति बहुवचन)। जबकि वैदिक संस्कृत में इनमें रूप 'देवासः' 'जनामः' भी बनते हैं। इसी प्रकार, प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति बहुवचन में 'विश्वानि' रूप वैदिक साहित्य में 'विश्वा' भी बन जाता है। तृतीय बहुवचन में वैदिक संस्कृत में 'देवैः' इस रूप के साथ-साथ 'देवेभिः' भी मिलता है। इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति एकवचन में 'व्योम्नि' अथवा 'व्योमनि' इन रूपों के साथ-साथ वैदिक संस्कृत में 'व्योमन्' यह रूप भी प्राप्त होता है।

(2) वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में क्रियारूपों और धातुरूपों में भी विशेष अन्तर है। वैदिक संस्कृत इस विषय में कुछ अधिक समृद्ध है तथा उसमें कुछ और रूपों को उपलब्धि होती है जबकि लौकिक संस्कृत में क्रिया पदों की अवस्था बताने वाले ऐसे केवल दो ही लकार हैं : लोट् और विधिलिंग जोक लट्प्रकृति अर्थात् वर्तमानकाल की धातु से बनते हैं। उदाहरणार्थ पठ् से पठतु और पठेत् ये दोनों बनते हैं। वैदिक संस्कृत में क्रियापदों की अवस्था को द्योतित करने वाले दो और अधिक लकार हैं : लेट् लकार एवं निषेधात्मक लुंलकार (Injunctive) (जो लौकिक संस्कृत में केवल निषेधार्थक 'मा' से प्रदर्शित होता है और जो लकार

लौकिक संस्कृत में पूर्णतः अप्राप्य है।) इन चारों अवस्थाओं के द्योतक लकार वैदिक संस्कृत में केवल लट् प्रकृति से ही नहीं बनते हैं, किन्तु लिट् प्रकृति और लुं प्रकृति से भी बनते हैं। इस प्रकार वैदिक संस्कृत में धातुरूप अत्यधिक मात्रा में हैं। इसके अतिरिक्त लिं प्रत्यय सम्बन्धी भेद वैदिक संस्कृत में पाये जाते हैं जैसे मिनीमसि भी (लट्, उत्तम पुरुष बहुवचन में) प्रयुक्त होता है, परन्तु लौकिक संस्कृत में 'मिनीमही' प्रयुक्त होता है। जहाँ तक धातु से बने हुए अन्य रूपों का प्रश्न है, लौकिक संस्कृत में केवल एक ही 'तुमुन्' (जैसे गन्तुम्) मिलता है जबकि वैदिक संस्कृत में इसके लगभग एक दर्जन रूप मिलते हैं जैसे गन्तवै, गमध्यै, जीवसै, दातवै इत्यादि।

(3) पुनश्च, लौकिक संस्कृत आगे चलकर अधिकाधिक कृत्रिम अथवा सुबद्ध होती गई है और इसके उदाहरण हमें सुबन्धु और बाणभट्ट के गद्यकाव्यों में प्रयुक्त भयावह समासों में मिलते हैं। इस कला में वह अपने क्षेत्र के अन्य गद्यकारों से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

(4) कुछ वैदिक शब्द लौकिक संस्कृत में अप्राप्य हैं और कुछ नये शब्दों का उद्भव भी हो गया है। उदाहरणार्थ, वैदिक शब्द 'अपस्' का 'कार्य' के अर्थ में प्रयोग लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गया है। लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त 'परिवार' शब्द वैदिक संस्कृत में अनुपलब्ध है। यह वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की अपनी विशेषता है।

शब्दार्थ विज्ञान की दृष्टि से कुछ शब्दों में एक विशिष्ट परिवर्तन हुआ है जैसे 'ऋतु' जिसका वैदिक संस्कृत में अर्थ है 'शक्ति' और लौकिक संस्कृत में उसका अर्थ 'यज्ञ' हो गया है।

ध्वनि अंतर

वैदिक संस्कृत में 'फ' और 'ख' की ध्वनियाँ थीं जो बाद की संस्कृत में खोई गई। इसमें 'ख' के उच्चारण पर ध्यान दें क्योंकि यह 'ख' से बहुत भिन्न है, और 'खराब' और 'खास' जैसे 'ाब्दों में मिलती है। आधुनिक काल में एक गलत धारणा है कि 'फ' और 'ख' की ध्वनियाँ संस्कृत-परम्परा में विदेशज हैं। वर्गीकरण की दृष्टि से 'फ' को 'उपध्मानीय' और 'ख' को 'जिह्वामूलीय' कहा जाता है। 'ख' की ध्वनि को विसर्ग में अघोष कण्ठ्य वर्णों से पहले उच्चारित किया जाता था।

अन्य अन्तर

भाषा में परिवर्तन के अतिरिक्त दोनों साहित्यों में कुछ और भिन्नताएँ प्राप्य हैं–

(1) प्रथमतः, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वैदिक साहित्य, प्रधानतः धार्मिक है जब कि लौकिक संस्कृत अपने वर्ण्यविषय की दृष्टि से धर्म के साथ-साथ लौकिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बद्ध है।

(2) दोनों की आत्मा यद्यपि अभिन्न है। तथापि अभिन्नता में भी भिन्नता के दर्शन होते हैं। वैदिक वांग्मय, मुख्यतः जैसा कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में हमें प्राप्त होता है, आशावादी है जबकि लौकिक संस्कृत साहित्य निराशावादी है, इस निराशावाद की झलक बौद्धों के 'सर्व दुःखं' में भी है। बौद्धों के व्यवहार्यपक्ष 'करुणा' और 'मैत्री' का उद्घोष भी वैदिक साहित्य की मौलिकता है।

(3) वैदिक धर्म भी परवर्ती काल में अव्यक्त रूप से विशिष्ट परिवर्धित हुआ दिखाई देता है। यहाँ तक कि वैदिक युग के प्रधान देवता जैसे इन्द्र, अग्नि, वरुण को लौकिक संस्कृत में अपेक्षाकृत विशिष्टता प्राप्त नहीं हुई परन्तु ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों को वेदों में केवल गौण स्थान ही प्राप्त था, परवर्ती काल में इन्हें एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। इस काल में कुछ नए देवी देवताओं : गणेश, कुबेर, लक्ष्मी और दुर्गा इत्यादि का भी वैदिक मूल से विकास हुआ।

(4) परवर्ती, विशेषतः आठवीं और नवीं शताब्दी के बाद के, कवियों में अत्युक्ति का आश्रय ग्रहण करने की ओर अधिक झुकाव है, जैसे माघ, श्रीहर्ष आदि में जबकि पूर्ववर्ती कवियों जैसे अश्वघोष (बौद्ध कवि), भास और कालिदास में अत्युक्ति का अभाव है। वैदिक वांग्मय में अत्युक्ति का महा अभाव है।

(5) लौकिक संस्कृति में छन्दोबद्ध रूपों के प्रयोगों की ओर हमें एक विशिष्ट आग्रह दिखायी देता है। वैदिक युग में भी छन्दोबद्ध रूपों का आधिक्य मिलता है, किन्तु वहां विशेषतः यज्ञ सम्बन्धी साहित्य में गद्य का भी प्रयोग हुआ, जैसे यजुर्वेद और ब्राह्मणों में। लौकिक संस्कृत काल में छन्दोबद्ध रूपों के प्रयोग की ओर इतना अधिक झुकाव है कि यहाँ तक कि वैद्यक ग्रन्थ (चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता इत्यादि) भी पद्य में ही लिखे

गये। आश्चर्य तो इस बात से होता है कि कोशों की रचना (जैसे अमरकोश) भी छन्दों में ही हुई। कुछ आगे चलकर परवर्ती काल में बाण और सुबन्धु ने गद्य काव्यों के लेखन की शैली का विकास किया, जो कि बड़े-बड़े समासों से मिश्रित होने के कारण अत्यन्त कृत्रिम कही जाती है। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती काल में सूत्र-रूप में दार्शनिक ग्रंथों को लिखने की प्रणाली का भी प्रचलन हुआ।

आगे चलकर हमें छन्दों की प्रणाली का भी एक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। वैदिक छन्द जगती, त्रिष्टुभ, अनुष्टुभ तो लौकिक संस्कृत में सर्वथा अनुपलब्ध है। जबकि लौकिक संस्कृत के छन्द वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा, शिखरिणी आदि वेदों में पूर्णतः अप्राप्य हैं। हां, यह अवश्य सच है कि लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त श्लोक छन्द वैदिक अनुष्टुभ् छन्द का ही रूप हैं।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की भिन्नताओं की ओर दृष्टिपात करते हुए यह ध्यान देना आवश्यक है कि सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से काफी मिलती-जुलती हैं। वेदों में कुछ और अधिक ध्वनियाँ मिलती हैं, जैसे कि ळ। अन्य ध्वनि-सिद्धान्त दोनों के समान ही हैं और उनमें कोई भी वैसा अन्तर नहीं दिखायी देता जैसा कि प्राकृत बोलियों में हमें प्राप्त होता है।

अवस्ताई फारसी और वैदिक संस्कृत की तुलना

19वीं शताब्दी में अवस्ताई फारसी और वैदिक संस्कृत दोनों पर पश्चिमी विद्वानों की नजर नई-नई पड़ी थी और इन दोनों के गहरे सम्बन्ध का तथ्य उनके सामने जल्दी ही आ गया। उन्होने देखा के अवस्ताई फारसी और वैदिक संस्कृत के शब्दों में कुछ सरल नियमों के साथ एक से दूसरे को अनुवादित किया जा सकता था और व्याकरण की दृष्टि से यह दोनों बहुत नजदीक थे। अपनी सन् 1892 में प्रकाशित किताब 'अवस्ताई व्याकरण की संस्कृत से तुलना और अवस्ताई वर्णमाला और उसका लिप्यन्तरण' में भाषावैज्ञानिक और विद्वान एब्राहम जैक्सन ने उदहारण के लिए एक अवस्ताई धार्मिक श्लोक का वैदिक संस्कृत में सीधा अनुवाद किया -

मूल अवस्ताई
वैदिक संस्कृत अनुवाद
तम अमवन्तम यजतम
सूरम दामोहु सविश्तम

मिथ्रम यजाइ जओथ्रब्यो
तम आमवन्तम यजताम
शूरम धामसू शाविष्ठम
मित्रम यजाइ होत्रभ्य:

वैदिक साहित्य

नंद मौर्य राजवंश वैदिक साहित्य हिन्दू धर्म के प्राचीनतम स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला तथा विश्व का प्राचीनतम् स्रोत है। वैदिक साहित्य को 'श्रुति' कहा जाता है, क्योंकि (सृष्टि/नियम)कर्त्त ब्रह्मा ने विराटपुरुष भगवान् की वेदध्वनि को सुनकर ही प्राप्त किया है। अन्य ऋषियों ने भी इस साहित्य को श्रवण-परम्परा से ही ग्रहण किया था।

वेद के मुख्य मन्त्र भाग को संहिता कहते हैं। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ऊपर लिखे सभी वेदों के कई उपनिषद, आरण्यक तथा उपवेद आदि भी आते जिनका विवरण नीचे दिया गया है। इनकी भाषा संस्कृत है, जिसे अपनी अलग पहचान के अनुसार वैदिक संस्कृत कहा जाता है - इन संस्कृत शब्दों के प्रयोग और अर्थ कालान्तर में बदल गए या लुप्त हो गए माने जाते हैं। ऐतिहासिक रूप से प्राचीन भारत और हिन्दू-आर्य जाति के बारे में इनको एक अच्छा सन्दर्भ माना जाता है। संस्कृत भाषा के प्राचीन रूप को लेकर भी इनका साहित्यिक महत्त्व बना हुआ है।

रचना के अनुसार प्रत्येक शाखा की वैदिक शब्द-राशि का वर्गीकरण-चार भाग होते हैं। पहले भाग (संहिता) के अलावा हरेक में टीका अथवा भाष्य के तीन स्तर होते हैं। कुल मिलाकर ये हैं–

संहिता (मन्त्र भाग)

ब्राह्मण-ग्रन्थ (गद्य में कर्मकाण्ड की विवेचना)

आरण्यक (कर्मकाण्ड के पीछे के उद्देश्य की विवेचना)

उपनिषद (परमेश्वर, परमात्मा-ब्रह्म और आत्मा के स्वभाव और सम्बन्ध का बहुत ही दार्शनिक और ज्ञानपूर्वक वर्णन)

जब हम चार वेदों की बात करते हैं तो उससे संहिता भाग का ही अर्थ लिया जाता है। उपनिषद (ऋषियों की विवेचना), ब्राह्मण (अर्थ) आदि मंत्र भाग (संहिता) के सहायक ग्रंथ समझे जाते हैं। वेद 4 हैं - ऋक, साम, यजु: और अथर्व।

वैदिक साहित्य का काल

इस विषय के विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है कि वेदों की रचना कब हुई और उनमें किस काल की सभ्यता का वर्णन मिलता है। भारतीय वेदों को अपौरुषेय (किसी पुरुष द्वारा न बनाया हुआ) मानते हैं अतः नित्य होने से उनके काल-निर्धारण का प्रश्न ही नहीं उठताय किन्तु पश्चिमी विद्वान इन्हें ऋषियों की रचना मानते हैं और इसके काल के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक कल्पनाएँ की हैं। उनमें पहली कल्पना मैक्समूलर की है। उन्होंने वैदिक साहित्य का काल 1200 ई. पू. से 600 ई. पू. माना है। दूसरी कल्पना जर्मन विद्वान मारिज विण्टरनित्ज की है। उसने वैदिक साहित्य के आरम्भ होने का काल 2500-2000 ई. पू. तक माना। तिलक और अल याकुबी ने वैदिक साहित्य में वर्णित नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर इस साहित्य का आरम्भ काल 4500 ई.पू. माना। श्री अविनाशचन्द्र दास तथा पावगी ने ऋग्वेद में वर्णित भूगर्भ-विषयक साक्षी द्वारा ऋग्वेद को कई लाख वर्ष पूर्व का ठहराया है।

वैदिक साहित्य का वर्गीकरण

वैदिक साहित्य निम्न भागों में बँटा है–

(1) संहिता, (2) ब्राह्मण, (3) आरण्यक, (4) उपनिषद् और (1) वेदांग (2) सूत्र-साहित्य

संहिता

संहिता का अर्थ है संग्रह। संहिताओं में विभिन्न देवताओं के स्तुतिपरक मंत्रों का संकलन है। संहिताएँ चार हैं-(1) ऋक् (2) यजु, (3) साम और (4) अथर्व प्राचीन परम्परा के अनुसार वेद नित्य और अपौरुषेय हैं। उनकी कभी मनुष्य द्वारा रचना नहीं हुई। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने इनका प्रकाश अग्नि, वायु आदित्य और अंगिरा नामक ऋषियों को दिया। प्रत्येक वैदिक मन्त्र का देवता और ऋषि होता है। मन्त्र में जिसकी स्तुति की जाय वह उस मन्त्र का देवता है और जिसने मन्त्र के अर्थ का सर्वप्रथम प्रदर्शन किया हो वह उसका ऋषि है। पाश्चात्य विद्वान ऋषियों को ही वेद-मन्त्रों का रचयिता मानते हैं। वैदिक साहित्य को श्रुति भी कहा जाता है, क्योंकि पुराने ऋषियों ने इस साहित्य को श्रवण-परम्परा से ग्रहण किया था। बाद में इस ज्ञान को स्मरण करके जो ग्रन्थ लिखे गए, वे स्मृति कहलाए। श्रुति के शीर्ष स्थान पर उपर्युक्त चार संहिताएँ हैं।

ऋग्वेद

ऋग्वेद में 10,627 मन्त्र और 1,028 सूक्त हैं, ये दस मण्डलों में विभक्त हैं। सूक्तों में देवताओं की स्तुतियाँ हैं। ये बड़ी भव्य, उदात्त और काव्यमयी हैं। इनमें कल्पना की नवीनता, वर्णन की प्रौढ़ता और प्रतिभा की ऊँची उड़ान मिलती है। 'उषा' आदि कई देवताओं के वर्णन बड़े हृदयग्राही हैं। पाश्चात्य विद्वान ऋग्वेद की संहिता को सबसे प्राचीन मानते हैं। उनका विचार है कि इसके अधिकांश सूक्तों की रचना पंजाब में हुई। उस समय आर्य अफगानिस्तान से गंगा-यमुना तक के प्रदेशों में फैले हुए थे। उनके मत में ऋग्वेद में कुभा (काबुल), सुवास्तु (स्वात), क्रमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सिन्धु, गंगा, यमुना सरस्वती तथा पंजाब की पाँच नदियों शतुद्रि (सतलुज), विपाशा (व्यास), परुष्णी (रावी), असिवनी (चनाब) और वितस्ता (झेलम) का उल्लेख है। इन नदियों से सिंचित प्रदेश भारत में आर्य-सभ्यता का जन्म-स्थान माना जाता है।

यजुर्वेद

इसमें यज्ञ-विषयक मन्त्रों का संग्रह है। इनका प्रयोग यज्ञ के समय अध्वर्यु नामक पुरोहित किया करता था। यजुर्वेद में 40 अध्याय हैं। तथा 1975 मन्त्र निहित है। पाश्चात्य विद्वान इसे ऋग्वेद से काफी समय बाद का मानते हैं। ऋग्वेद में आर्यों का कार्य-क्षेत्र पंजाब है, इसमें कुरु-पाँचाल। कुरु सतलुज यमुना का मध्यवर्ती भू-भाग (वर्तमान अम्बाला डिवीजन) है और पाँचाल गंगा-यमुना का दोआब था। इसी समय से गंगा-यमुना का प्रदेश आर्य-सभ्यता का केन्द्र हो गया। ऋग्वेद का धर्म उपासना-प्रधान था, किन्तु यजुर्वेद के दो भेद हैं-कृष्ण यजुष् और शुक्ल यजुष। दोनों के स्वरूप में बड़ा अन्तर है, पहले में केवल मन्त्रों का संग्रह है और दूसरे में छन्दोबद्ध मन्त्रों के साथ गद्यात्मक भाग सभी है।

सामवेद

इसमें गेय मन्त्रों का संग्रह है। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता था, उसे बुलाने के लिए उद्गाता उचित स्वर में उस देवता का स्तुति-मन्त्र गाता था। इस गायन को 'साम' कहते थे। प्राय: ऋचाएँ ही गाई जाती थीं। अत: समस्त सामवेद में ऋचाएँ ही हैं। इनकी संख्या 1,875 है। इनमें से केवल 75 ही नई हैं, बाकी सब ऋग्वेद से ली गई हैं। भारतीय संगीत का मूल सामवेद में उपलब्ध होता है।

अथर्ववेद

अथर्ववेद का यज्ञों से बहुत कम सम्बन्ध है। इसमें आयुर्वेद सम्बन्धी सामग्री अधिक है। इसका प्रतिपाद्य विषय विभिन्न प्रकार की ओषधियाँ, ज्वर, पीलिया, सर्पदंश, विष-प्रभाव को दूर करने के मन्त्र सूर्य की स्वास्थ्य-शक्ति, रोगोत्पादक कीटाणुओ के शमन अदि का वर्णन है , इस वेद में यज्ञ करने के लाभ को तथा यज्ञ से पर्यावरण की रक्षा का भी वर्णन है। वे इसमें आर्य और अनार्य धार्मिक विचारों का सम्मिश्रण देखते हैं, किन्तु वस्तुतः इसमें राजनीति तथा समाज-शास्त्र के अनेक ऊँचे सिद्धान्त हैं। इसमें 20 काण्ड, 34 प्रपाठक, 111 अनुवाक, 731 सूक्त तथा 5,977 मन्त्र हैं, इनमें 1200 के लगभग मन्त्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। ऊपर कहे गए चारों संहिताएं पहले एक ही जगह थे। वेदव्यास जी ने यज्ञसिद्धिके लिए चार भागों में विभाजन किया था।

वेदों की शाखाएँ

प्राचीन काल में वेदों की रक्षा गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा होती थी। इनका लिखित एवं निश्चित स्वरूप न होने से वेदों के स्वरूप में कुछ भेद आने लगा और इनकी शाखाओं का विकास हुआ। ऋग्वेद की पाँच शाखाएँ थीं - शैशिरीयशाकल, बाष्कल, आश्वलायन, शांखायन और माण्डूकेय। इनमें अब पहली शाखा ही उपलब्ध होती है। यह शाखा आदित्य सम्प्रदायिका है। शुक्ल यजुर्वेद की दो प्रधान शाखाएँ हैं - माध्यंदिन और काण्व। पहली उत्तरी भारत में मिलती है और दूसरी महाराष्ट्र में। इनमें अधिक भेद नहीं है। कृष्ण यजुर्वेद की आजकल चार शाखाएँ मिलती हैं - तैत्तिरीय मैत्रयणी, काठक (या कठ) तथा कापिष्ठल संहिता। इनमें दूसरी-तीसरी पहली से मिलती हैं, क्रम में थोड़ा ही अन्तर है। चौथी शाखा आधी ही मिली है। यह वेद ब्रह्मसम्प्रदायिका है। सामवेद की दो शाखाएँ थीं-कौथुम और राणायनीय। इसमें कौथुम का केवल सातवाँ प्रपाठक मिलता है। यह शाखा भी आदित्य सम्प्रदाय का है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं-पैप्पलाद और शौनक। वर्तमान समय में शौनक शाखा ही पूर्णरुप में प्राप्त होती है, यह शाखा आदित्यसम्प्रदायिका है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ

चारों वेदों के संस्कृत भाषा में प्राचीन समय में जो अनुवाद थे 'मन्त्रब्राह्मणयोः वेदनामधेयम्' के अनुसार वे ब्राह्मण ग्रंथ कहे जाते हैं। चार मुख्य

ब्राह्मण ग्रंथ हैं- ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ। वेद संहिताओं के बाद ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हुआ माना जाता है। इनमें यज्ञों के कर्मकाण्ड का विस्तृत वर्णन है, साथ ही शब्दों की व्युत्पत्तियाँ तथा प्राचीन राजाओं और ऋषियों की कथाएँ तथा सृष्टि-सम्बन्धी विचार हैं। प्रत्येक वेद के अपने ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं - (1) ऐतरेय ब्राह्मण और (2) कौषीतकी। ऐतरेय में 40 अध्याय और आठ पंचिकाएँ हैं, इसमें अग्निष्टोम, गवामयन, द्वादशाह आदि सोमयागों, अग्निहोत्र तथा राज्यभिषेक का विस्तृत ऐतरेय ब्राह्मण-जैसा ही है। इनसे तत्कालीन इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। ऐतरेय में शुनःशेप की प्रसिद्ध कथा है। कौषीतकी से प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में भाषा के सम्यक् अध्ययन पर बहुत बल दिया जाता था। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसमें सौ अध्याय हैं। ऋग्वेद के बाद प्राचीन इतिहास की सबसे अधिक जानकारी इसी से मिलती है। इसमें यज्ञों के विस्तृत वर्णन के साथ अनेक प्राचीन आख्यानों, व्युत्पत्तियों तथा सामाजिक बातों का वर्णन है। इसके समय में कुरु-पाँचाल आर्य संस्कृति का केन्द्र था, इसमें पुरूरवा और उर्वशी की प्रणय-गाथा, च्यवन ऋषि तथा महा प्रलय का आख्यान, जनमेजय, शकुन्तला और भरत का उल्लेख है। सामवेद के अनेक ब्राह्मणों में से पंचविंश या ताण्ड्य ही महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ के नाम से प्रसिद्ध है।

आरण्यक

ब्राह्मणों के अन्त में कुछ ऐसे अध्याय मिलते हैं जो गाँवों या नगरों में नहीं पढ़े जाते थे। इनका अध्ययन-अध्यापन गाँवों से दूर (अरण्यों/वनों) में होता था, अतः इन्हें आरण्यक कहते हैं। गृहस्थाश्रम में यज्ञविधि का निर्देश करने के लिए ब्राह्मण-ग्रन्थ उपयोगी थे और उसके बाद वानप्रस्थ आश्रम में संन्यासी आर्य यज्ञ के रहस्यों और दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन करने वाले आरण्यकों का अध्ययन करते थे। उपनिषदों का इन्हीं आरण्यकों से विकास हुआ।

उपनिषद्

उपनिषदों में मानव-जीवन और विश्व के गूढ़तम प्रश्नों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। ये भारतीय अध्यात्म-शास्त्र के देदीप्यमान रत्न हैं। इनका मुख्य विषय ब्रह्म-विद्या का प्रतिपादन है। वैदिक साहित्य में इनका स्थान सबसे अन्त में होने से ये 'वेदान्त' भी कहलाते हैं। इनमें जीव और ब्रह्म की एकता के

प्रतिपादन द्वारा ऊँची-से-ऊँची दार्शनिक उड़ाने ली गई है। भारतीय ऋषियों ने गम्भीरतम चिन्तन से जिन आध्यात्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया, उपनिषद उनका अमूल्य कोष हैं। इनमें अनेक शतकों की तत्त्व-चिन्ता का परिणाम है। मुक्तिकोपनिषद् चारों वेदों से सम्बद्ध 108 उपनिषद् गिनाए गए हैं, किन्तु 11 उपनिषद् ही अधिक प्रसिद्ध हैं-ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर इनमें छान्दोग्य और बृहदारण्यक अधिक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। वैदिक साहित्यका यह सिद्धान्त देखा जाता है प्रत्येक मन्त्रभागमे एक और ब्राह्मणभागमे एक उपनिषद उपदिष्ट थे। अब प्राय लुप्त होगएद्य अब भी यह सिद्धान्त शुक्ल यजुर्वेदमे बचा है- ईशावास्योनिषद् मन्त्रोपनिषद् है और बृहदारण्यकोपनिषद् ब्राह्मणोपनिषद् है।

सूत्र-साहित्य

वैदिक साहित्य के विशाल एवं जटिल होने पर कर्मकाण्ड से सम्बद्ध सिद्धान्तों को एक नवीन रूप दिया गया। कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक अर्थ-प्रतिपादन करने वाले छोटे-छोटे वाक्यों में सब महत्त्वपूर्ण विधि-विधान प्रकट किये जाने लगे। इन सारगर्भित वाक्यों को सूत्र कहा जाता था। कर्मकाण्ड-सम्बन्धी सूत्र-साहित्य को चार भागों में बाँटा गया-

(1) श्रौत सूत्र (2) गृह्य सूत्र (3) धर्म सूत्र और (4) शुल्ब सूत्र

पहले में वैदिक यज्ञ सम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन है। दूसरे में गृहस्थ के दैनिक यज्ञों का, तीसरे में सामाजिक नियमों का और चौथे में यज्ञ-वेदियों के निर्माण का।

श्रौत सूत्र

श्रौत का अर्थ है श्रुति (वेद) से सम्बद्ध यज्ञ याग। अतः श्रौत सूत्रों में तीन प्रकार की अग्नियों के आधान अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास, चातुर्मास्यादि साधारण यज्ञों तथा अग्निष्टोम आदि सोमयागों का वर्णन है। ये भारत की प्राचीन यज्ञ-पद्धति पर बहुत प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद के दो श्रौत सूत्र हैं-शांखायन और आश्वलायन। शुक्ल यजुर्वेद का एक-कात्यायन, कृष्ण यजुर्वेद के छः सूत्र हैं-आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, भारद्वाज, मानव, वैखानस। सामवेद के लाट्यायन, द्राह्यायण और आर्षेय नामक तीन सूत्र हैं। अथर्ववेद का एक ही वैतान सूत्र है।

गृह्य सूत्र

इनमें उन विचारों तथा जन्म से मरणपर्यन्त किये जाने वाले संस्कारों का वर्णन है, जिनका अनुष्ठान प्रत्येक हिन्दू-गृहस्थ के लिए आवश्यक समझा जाता था। उपनयन और विवाह-संस्कार का विस्तार से वर्णन है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से प्राचीन भारतीय समाज के घरेलू आचार-विचार का तथा विभिन्न प्रान्तों के रीति-रिवाज का परिचय पूर्ण रूप से हो जाता है। ऋग्वेद के गृह्य सूत्र शांखायन और आश्वलायन हैं। शुक्ल यजुर्वेद का पारस्कर, कृष्ण यजुर्वेद के आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, ठींतंकअंर , वराह,मानव, काठक और वैखानस, सामवेद के गोभिल तथा खादिर और अथर्ववेद का कौशिक। इनमें गोभिलको प्राचीनतम माना जाता है।

धर्मसूत्र

धर्मसूत्रों में समाजिक जीवन के नियमों का विस्तार से प्रतिपादन है। वर्णाश्रम-धर्म की विवेचना करते हुए ब्रह्मचारी, गृहस्थ व राजा के कर्त्तव्यों, विवाह के भेदों, दाय की व्यवस्था, निषिद्ध भोजन, शुद्धि, प्रायश्चित्त आदि का विशेष वर्णन है। इन्हीं धर्मसूत्रों से आगे चलकर स्मृतियों की उत्पत्ति हुई, जिनकी व्यवस्थाएँ हिन्दू-समाज में आज तक माननीय समझी जाती हैं। वेद से सम्बद्ध केवल तीन धर्मसूत्र ही अब तक उपलब्ध हो सके हैं-आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी व बौधायन। ये कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध हैं। शुक्लयजुर्वेदका शंखलिखित धर्मसूत्र होनेकी बात सुना है। अन्य धर्मसूत्रों में सामवेदसे सम्बद्ध गौतमधर्मसूत्र और ऋग्वेदसे सम्बद्ध वसिष्ठधर्मसूत्र उल्लेखनीय हैं।

शुल्ब सूत्र

इनका सम्बन्ध श्रौतसूत्रों से है। शुल्ब का अर्थ है मापने का डोरा। अपने नाम के अनुसार शुल्ब सूत्रों में यज्ञ-वेदियों को नापना, उनके लिए स्थान का चुनना तथा उनके निर्माण आदि विषयों का विस्तृत वर्णन है। ये भारतीय ज्यामिति के प्राचीनतम स्रोत ग्रन्थ हैं।

वेदांग

काफी समय बीतने के बाद वैदिक साहित्य जटिल एवं कठिन प्रतीत होने लगा। उस समय वेद के अर्थ तथा विषयों का स्पष्टीकरण करने के लिए अनेक सूत्र-ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इसलिए इन्हें वेदांग कहा गया।

वेदांग छः हैं-

शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष–पहले चार वेदांग, मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण और अर्थ समझने के लिए तथा अन्तिम दो वेदांग धार्मिक कर्मकाण्ड और यज्ञों का समय जानने के लिए आवश्यक हैं। व्याकरण को वेद का मुख कहा जाता है, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को श्रोत्र, कल्प को हाथ, शिक्षा को नासिका तथा छन्द को दोनों पैर।

शिक्षा–उन ग्रन्थों को शिक्षा कहते हैं, जिनकी सहायता से वेद-मन्त्रों के उच्चारण का शुद्ध ज्ञान होता था। वेद-पाठ में स्वरों का विशेष महत्त्व था। इनकी शिक्षा के लिए पृथक् वेदांग बनाया गया। इसमें वर्णों के उच्चारण के अनेक नियम दिये गए हैं। संसार में उच्चारण-शास्त्र की वैज्ञानिक विवेचना करने वाले पहले ग्रन्थ यही हैं। ये वेदों की विभिन्न शाखाओं से सम्बन्ध रखते हैं और प्रतिशाख्य कहलाते हैं। ऋग्वेद अथर्ववेद, वाजसेनीय व तैत्तिरीय संहिता के प्रतिशाख्य मिलते हैं। बाद में इसके आधार पर शिक्षा-ग्रन्थ लिखे गए। इनमें शुक्ल यजुर्वेद की याज्ञवल्क्य-शिक्षा, सामवेद की नारद शिक्षा और पाणिनि की पाणिनीय शिक्षा मुख्य हैं

छन्द–वैदिक मन्त्र छन्दोवद्ध हैं। छन्दों का बिना ठीक ज्ञान प्राप्त किये, वेद- मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण नहीं हो सकता। अतः छन्दों की विस्तृत विवेचना आवश्यक समझी गई। शौनक मुनि के ऋक्प्रातिशाख्य में, शांखायन श्रौतसूत्र में तथा सामवेद से सम्बद्ध निदान सूत्र में इस शास्त्र का व्यवस्थित वर्णन है। किन्तु इस वेदांग का एकमात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ पिंगलाचार्य-प्रणीत छन्द सूत्र है। इसमें वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन है।

व्याकरण–इस अंग का उद्देश्य सन्धि, शब्द-रूप, धातु-रूप तथा इनकी निर्माण-पद्धति का ज्ञान कराना था। इस समय व्याकरण का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ पाणिनी का अष्टाध्यायी है, किन्तु व्याकरण का विचार ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय से शुरू हो गया था। पाणिनी से पहले गार्ग्य, स्फोटायन, भारद्वाज आदि व्याकरण के अनेक महान आचार्य हो चुके थे। इन सबके ग्रन्थ अब लुप्त हो चुके हैं।

निरुक्त–इसमें वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखाई जाती थी। प्राचीन काल में वेद के कठिन शब्दों की क्रमबद्ध तालिका और कोश निघंटु कहलाते थे और इनकी व्याख्या निरुक्त में होती थी। आजकल केवल यास्काचार्य का निरुक्त ही उपलब्ध होता है। इसका समय 800 ई. पू. के लगभग है।

ज्योतिष

वैदिक युग में यह धारणा थी कि वेदों का उद्देश्य यज्ञों का प्रतिपादन है। यज्ञ उचित काल और मुहूर्त में किये जाने से ही फलदायक होते हैं। अतः काल-ज्ञान के लिए ज्योतिष का ज्ञान अत्यावश्यक माना गया। इस प्रकार ज्योतिष के ज्ञाता को यज्ञवेत्ता जाना गया। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र का विकास हुआ। यह वेद का अंग समझा जाने लगा। इसका प्राचीनतम ग्रन्थ लगधमुनि-रचित वेदांग ज्योतिष पंचसंवत्सरमयं इत्यादि 44 श्लोकात्मक है। नेपाल में इस ग्रन्थ के आधार पर बना वैदिक तिथिपत्रम् व्यवहार में लाया गया है।

कल्प

कल्प, वेद के छह अंगों (वेदांगों) में से वह अंग है जो कर्मकाण्डों का विवरण देता है। अनेक वैदिक ऐतिहासिकों के मत से कल्पग्रंथ या कल्पसूत्र छः वेदांगों में प्राचीनतम और वैदिक साहित्य के अधिक निकट हैं। वेदांगों में कल्प का विशिष्ट महत्त्व है, क्योंकि जन्म, उपनयन, विवाह, अंत्येष्टि और यज्ञ जैसे विषय इसमें विहित हैं।

वैदिक व्याकरण

संस्कृत का सबसे प्राचीन (वेदकालीन) व्याकरण 'वैदिक व्याकरण' कहलाता है। यह पाणिनीय व्याकरण से कुछ भिन्न था।

परिचय

संस्कृत में लिखित बृहद् साहित्य के मुख्यतः दो खण्ड हैं - वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य। वैदिक साहित्य के मुख्यतः पाँच विभाग हैं-

(1) संहिताएं (सूक्तों के संग्रह) (2) ब्राह्मण, (3) अरण्यक (4) उपनिषद (5) कल्पसूत्र

कल्पसूत्र जो प्रधानतः तीन प्रकार के हैं–

(क) श्रौतसूत्र, जो यज्ञों से सम्बन्धित हैं,

(ख) गृह्यसूत्र, जिनका गृह के विधानों से सम्बन्ध है,

(ग) धर्मसूत्र, जो सामाजिक नियमों एवं व्यवहारों से सम्बन्धित हैं।

ये तीन प्रकार के सूत्र 'कल्पसूत्र' के अन्तर्गत लिए जाते हैं। इनके अतिरिक्त हैं- शुल्वसूत्र जो यज्ञवेदी सम्बन्धी रेखाणित रूपों का नियोजन करते

हैं और इस कारण कभी-कभी कल्पसूत्रों के ही भीतर गिने जाते हैं। उपर्युक्त कल्पसूत्रों के अतिरिक्त कुछ और भी ग्रंथ हैं, जिनका सम्बन्ध ध्वनि, विज्ञान, व्याकरण, छन्द और नक्षत्रविद्या से है। यह ग्रन्थ वेदांगों में परिगणित होते हैं। ये ग्रन्थ भी सूत्र-शैली में ही मिलते हैं और इनका समय है वैदिक एवं लौकिक संस्कृत का सन्धिकाल।

वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत में भेद

लौकिक संस्कृत-साहित्य का वैदिक साहित्य से अनेक प्रकार का भेद पाया जाता है। वैदिक साहित्य शुद्धतः धार्मिक है तथा इस में सभी लौकिक तत्त्वों का बीज समाहित है। लौकिक संस्कृत साहित्य प्रधान रूप से धार्मिक-धर्मनिरपेक्ष, अथवा धर्म में इसे लोक-परलोक से ही सम्बन्धित कहा जा सकता है। इस साहित्य में महाकाव्य (रामायण एवं महाभारत), पुराण एवं अन्य काव्य (जिनमें गद्य काव्य भी सम्मिलित हैं) नाटक, अलंकारशास्त्र, दर्शन, सूत्र, विधि अथवा नियमकला, वास्तुशास्त्र, औषधि (आयुर्वेद), गणित, मशीन तथा उद्योग सम्बन्धी तथा अनेकों ग्रंथ और अन्य विभिन्न विद्याओं की शाखाएं भी प्राप्त होती हैं।

लौकिक साहित्य की भाषा तथा वैदिक साहित्य की भाषा में भी अन्तर पाया जाता है। दोनों के शब्दरूप तथा धातुरूप अनेक प्रकार से भिन्न हैं। वैदिक संस्कृत के रूप केवल भिन्न ही नहीं हैं अपितु अनेक भी हैं, विशिष्टतया वे रूप जो क्रिया रूपों तथा धातुओं के स्वरूप से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध में दोनों साहित्यों की कुछ महत्त्वपूर्ण भिन्नताएँ निम्नलिखित हैं :-

(1) शब्दरूप की दृष्टि से उदाहरणार्थ, लौकिक संस्कृत में केवल ऐसे रूप बनते हैं जैसे - देवाः, जनाः (प्रथम विभक्ति बहुवचन)। जबकि वैदिक संस्कृत में इनमें रूप देवासः, जनामः भी बनते हैं। इसी प्रकार, प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति बहुवचन में 'विश्वानि' रूप वैदिक साहित्य में 'विश्वा' भी बन जाता है। तृतीया विभक्ति बहुवचन में वैदिक संस्कृत में 'देवैः' के साथ-साथ 'देवेभिः' भी मिलता है। इसी प्रकार सप्तमी विभक्ति एकवचन में 'व्योम्नि' अथवा 'व्योमनि' रूपों के साथ-साथ वैदिक संस्कृत में 'व्योमन्' भी प्राप्त होता है।

(2) वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में क्रियारूपों और धातुरूपों में भी विशेष अन्तर है। वैदिक संस्कृत इस विषय में कुछ अधिक समृद्ध है तथा उसमें कुछ अन्य रूपों की उपलब्धि होती है। जबकि लौकिक संस्कृत में क्रिया पदों की

अवस्था बतलाने वाले ऐसे केवल दो ही लकार हैं– लोट् और विधिलिं जोकि लट्प्रकृति अर्थात् वर्तमानकाल की धातु से बनते हैं। उदाहरणार्थ पठ् से पठतु और पठेत् ये दोनों बनते हैं। वैदिक संस्कृत में क्रियापदों की अवस्था को द्योतित करने वाले दो अन्य लकार हैं– लेट् लकार एवं निषेधात्मक लुंलकार (Injunctive) (जो कि लौकिक संस्कृत में केवल निषेधार्थक 'मा' से प्रदर्शित होता है और जो लौकिक संस्कृत में पूर्णतः अप्राप्य है)। इन चारों अवस्थाओं के द्योतक लकार वैदिक संस्कृत में केवल लट् प्रकृति से ही नहीं बनते हैं, किन्तु लिट् प्रकृति और लुं प्रकृति से भी बनते हैं। इस प्रकार वैदिक संस्कृत में धातुरूप अत्यधिक मात्रा में हैं। इसके अतिरिक्त लिं प्रत्यय सम्बन्धी भेद वैदिक संस्कृत में पाये जाते हैं जैसे 'मिनीमसिभी' (लट्, उत्तम पुरुष, बहुवचन में) प्रयुक्त होता है, परन्तु लौकिक संस्कृत में 'मिनीमही' प्रयुक्त होता है। जहाँ तक धातु से बने हुए अन्य रूपों का प्रश्न है, लौकिक संस्कृत में केवल एक ही 'तुमुन' (जैसे गन्तुम्) मिलता है जबकि वैदिक संस्कृत में इसके लगभग एक दर्जन रूप मिलते हैं जैसे गन्तवै, गमध्यै, जीवसै, दातवै इत्यादि।

(3) पुनश्च, लौकिक संस्कृत आगे चलकर अधिकाधिक कृत्रिम अथवा सुबद्ध होती गई है और इसके उदाहरण हमें सुबन्धु और बाणभटट के गद्यकाव्यों में प्रयुक्त भयावह समासों में मिलते हैं। इस कला में वह अपने क्षेत्र के अन्य गद्यकारों से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

(4) कुछ वैदिक शब्द लौकिक संस्कृत में अप्राप्य हैं और कुछ नये शब्दों का उद्भव भी हो गया है। उदाहरणार्थ, वैदिक शब्द 'अपसे' का 'कार्य' के अर्थ में प्रयोग लौकिक संस्कृत में लुप्त हो गया है। लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त 'परिवार' शब्द वैदिक संस्कृत में अनुपलब्ध है। यह वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की अपनी विशेषता है।

शब्दार्थ विज्ञान की दृष्टि से कुछ शब्दों में एक विशिष्ट परिवर्तन हुआ है जैसे 'ऋतु' जिसका वैदिक संस्कृत में अर्थ है 'शक्ति' और लौकिक संस्कृत में उसका अर्थ 'यज्ञ' हो गया है।

भाषा में परिवर्तन के अतिरिक्त दोनों साहित्यों में कुछ और भिन्नताएँ प्राप्य हैं–

(1) प्रथमतः, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, वैदिक साहित्य प्रधानतः धार्मिक है जब कि लौकिक संस्कृत अपने वर्णयविषय की दृष्टि से धर्म के साथ–साथ लौकिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बद्ध है।

(2) दोनों की आत्मा यद्यपि अभिन्न है तथापि अभिन्नता में भी भिन्नता के दर्शन होते हैं। वैदिक वांग्मय, मुख्यत: जैसा कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में हमें प्राप्त होता है, आशावादी है जबकि लौकिक संस्कृत साहित्य निराशावादी है, इस निराशावाद की झलक बौद्धों के 'सर्व दु:खं' में भी है। बौद्धों के व्यवहार्यपक्ष 'करुणा' और 'मैत्री' का उद्घोष भी वैदिक साहित्य की मौलिकता है।

(3) वैदिक धर्म भी परवर्ती काल में अव्यक्त रूप से विशिष्ट परिवर्धित हुआ दिखाई देता है। यहाँ तक कि वैदिक युग के प्रधान देवता जैसे इन्द्र, अग्नि, वरुण को लौकिक संस्कृत में अपेक्षाकृत विशिष्टता प्राप्त नहीं हुई परन्तु ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों को वेदों में केवल गौण स्थान ही प्राप्त था, परवर्ती काल में इन्हें एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया। इस काल में कुछ नए देवी देवताओं- गणेश, कुबेर, लक्ष्मी और दुर्गा इत्यादि का भी वैदिक मूल से विकास हुआ।

(4) परवर्ती कवियों में (विशेषत: आठवीं और नवीं शताब्दी के बाद के) अत्युक्ति का आश्रय ग्रहण करने की ओर अधिक झुकाव है, जैसे माघ, श्रीहर्ष आदि में जबकि पूर्ववर्ती कवियों जैसे अश्वघोष (बौद्ध कवि), भास और कालिदास में अत्युक्ति का अभाव है। वैदिक वांग्मय में अत्युक्ति का महा अभाव है।

(5) लौकिक संस्कृति में छन्दोबद्ध रूपों के प्रयोगों की ओर हमें एक विशिष्ट आग्रह दिखायी देता है। वैदिक युग में भी छन्दोबद्ध रूपों का आधिक्य मिलता है, किन्तु वहां विशेषत: यज्ञ सम्बन्धी साहित्य में गद्य का भी प्रयोग हुआ, जैसे यजुर्वेद और ब्राह्मणों में। लौकिक संस्कृत काल में छन्दोबद्ध रूपों के प्रयोग की ओर इतना अधिक झुकाव है कि यहाँ तक कि वैद्यक ग्रन्थ (चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता इत्यादि) भी पद्य में ही लिखे गये। आश्चर्य तो इस बात से होता है कि कोशों की रचना (जैसे अमरकोश) भी छन्दों में ही हुई। कुछ आगे चलकर परवर्ती काल में बाण और सुबन्धु ने गद्य काव्यों के लेखन की शैली का विकास किया, जो बड़े-बड़े समासों से मिश्रित होने के कारण अत्यन्त कृत्रिम कही जाती है। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती काल में सूत्र-रूप में दार्शनिक ग्रंथों को लिखने की प्रणाली का भी प्रचलन हुआ।

आगे चलकर हमें छन्दों की प्रणाली का भी एक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। वैदिक छन्द जगती, त्रिष्टुभ, अनुष्टुभ तो लौकिक संस्कृत में सर्वथा अनुपलब्ध है। जबकि लौकिक संस्कृत के छन्द वंशस्थ, उपेन्द्रवज्रा, शिखरिणी आदि वेदों में पूर्णतः अप्राप्य हैं। हां, यह अवश्य सच है कि लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त श्लोक छन्द वैदिक अनुष्टुभ् छन्द का ही रूप हैं।

वैदिक एवं लौकिक संस्कृत की भिन्नताओं की ओर दृष्टिपात करते हुए यह ध्यान देना आवश्यक है कि सिद्धांत की दृष्टि से दोनों एक दूसरे से काफी मिलती-जुलती हैं। वेदों में कुछ और अधिक ध्वनियाँ मिलती हैं, जैसे कि'। अन्य ध्वनि-सिद्धान्त दोनों के समान ही हैं और उनमें कोई भी वैसा अन्तर नहीं दिखायी देता जैसा कि प्राकृत बोलियों में हमें प्राप्त होता है।

3

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म अखण्ड भारत के हिन्दू धर्म की श्रमण परम्परा से निकली हुई एक सम्प्रदाय है। ईसा पूर्व 6वीं शताब्दी में गौतम बुद्धद्य द्वारा बौद्ध सम्प्रदाय की स्थापना की गई थी, जो आगे चलकर एक धर्म में बदल गई, तत्पश्चात् त्रिपिटक नामक धर्मग्रंथ लिखा गया हैं।

बौद्ध धर्म में प्रमुख खण्ड सम्प्रदाय हैं– महायान, थेरवाद, वज्रयान और नवयान, परन्तु बौद्ध सम्प्रदाय एक ही है एवं सभी गौतम बुद्ध के सिद्धान्त ही मानते हैं।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण के अगले पाँच शताब्दियों में, बौद्ध सम्प्रदाय धर्म के रूप में पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में फैला और अगले दो हजार वर्षों में मध्य, पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी जम्बू महाद्वीप में भी फैल गया। बौद्ध धर्म आज विश्व का चौथा सबसे बड़ा धर्म बन गया हैं।

बुद्ध का वास्तविक नाम सिद्धार्थ था। उनका जन्म 563 ई.पू. में कपिलवस्तु (शाक्य महाजनपद की राजधानी) के पास लुंबिनी (वर्तमान में दक्षिण मध्य नेपाल) में हुआ था। इसी स्थान पर सम्राट अशोक ने बुद्ध की स्मृति में एक स्तम्भ बनाया था।

सिद्धार्थ के पिता शाक्यों के राजा शुद्धोदन थे। परंपरागत कथा के अनुसार, सिद्धार्थ की माता महामाया उनके जन्म के कुछ देर बाद मर गयी थी। कहा जाता है कि उनका नाम रखने के लिये 8 ऋषियो को आमंत्रित किया गया था, सभी

ने 2 सम्भावनाएँ बताई थी, (1) वे एक महान राजा बनेंगे (2) वे एक साधु या परिव्राजक बनेंगे। इस भविष्य वाणी को सुनकर राजा शुद्धोदन ने अपनी योग्यता की हद तक सिद्धार्थ को साधु न बनने देने की बहुत कोशिशें की। शाक्यों का अपना एक संघ था। बीस वर्ष की आयु होने पर हर शाक्य तरुण को शाक्यसंघ में दीक्षित होकर संघ का सदस्य बनना होता था। सिद्धार्थ गौतम जब बीस वर्ष के हुए तो उन्होंने भी शाक्यसंघ की सदस्यता ग्रहण की और शाक्यसंघ के नियमानुसार सिद्धार्थ को शाक्यसंघ का सदस्य बने हुए आठ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। वे संघ के अत्यन्त समर्पित और पक्के सदस्य थे। संघ के मामलों में वे बहुत रूचि रखते थे। संघ के सदस्य के रूप में उनका आचरण एक उदाहरण था और उन्होंने स्वयं को सबका प्रिय बना लिया था।

संघ की सदस्यता के आठवें वर्ष में एक ऐसी घटना घटी, जो शुद्धोदन के परिवार के लिये दुखद बन गयी और सिद्धार्थ के जीवन में संकटपूर्ण स्थिति पैदा हो गयी। शाक्यों के राज्य की सीमा से सटा हुआ कोलियों का राज्य था। रोहणी नदी दोनों राज्यों की विभाजक रेखा थी। शाक्य और कोलिय दोनों ही रोहिणी नदी के पानी से अपने-अपने खेत सींचते थे। हर फसल पर उनका आपस में विवाद होता था कि कौन रोहिणी के जल का पहले और कितना उपयोग करेगा। ये विवाद कभी-कभी झगड़े और लड़ाइयों में बदल जाते थे। जब सिद्धार्थ 28 वर्ष के थे, रोहणी के पानी को लेकर शाक्य और कोलियों के नौकरों में झगड़ा हुआ, जिसमें दोनों ओर के लोग घायल हुए। झगड़े का पता चलने पर शाक्यों और कोलियों ने सोचा कि क्यों न इस विवाद को युद्ध द्वारा हमेशा के लिये हल कर लिया जाये। शाक्यों के सेनापति ने कोलियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा के प्रश्न पर विचार करने के लिये शाक्यसंघ का एक अधिवेशन बुलाया और संघ के समक्ष युद्ध का प्रस्ताव रखा।

सिद्धार्थ गौतम ने इस प्रस्ताव का विरोध किया और कहा युद्ध किसी प्रश्न का समाधान नहीं होता, युद्ध से किसी उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी, इससे एक दूसरे युद्ध का बीजारोपण होगा। सिद्धार्थ ने कहा मेरा प्रस्ताव है कि हम अपने में से दो आदमी चुनें और कोलियों से भी दो आदमी चुनने को कहें। फिर ये चारों मिलकर एक पाँचवा आदमी चुनें। ये पाँचों आदमी मिलकर झगड़े का समाधान करें। सिद्धार्थ का प्रस्ताव बहुमत से अमान्य हो गया साथ ही शाक्य सेनापति का युद्ध का प्रस्ताव भारी बहुमत से पारित हो गया। शाक्यसंघ और शाक्य सेनापति से विवाद न सुलझने पर अन्ततः सिद्धार्थ के पास तीन विकल्प

आये। तीन विकल्पों में से उन्हें एक विकल्प चुनना था (1) सेना में भर्ती होकर युद्ध में भाग लेना, (2) अपने परिवार के लोगों का सामाजिक बहिष्कार और उनके खेतों की जब्ती के लिए राजी होना, (3) फाँसी पर लटकना या देश निकाला स्वीकार करना। उन्होंने तीसरा विकल्प चुना और परिव्राजक बनकर देश छोड़ने के लिए राजी हो गए। परिव्राजक बनकर सर्वप्रथम सिद्धार्थ ने पाँच ब्राह्मणों के साथ अपने प्रश्नों के उत्तर ढूंढने शुरू किये। वे उचित ध्यान हासिल कर पाए, परंतु उन्हें अपने प्रश्नों के उत्तर नहीं मिले। फिर उन्होने तपस्या करने की कोशिश की। वे इस कार्य में भी वे अपने गुरुओं से भी ज्यादा, निपुण निकले, परंतु उन्हे अपने प्रश्नों के उत्तर फिर भी नहीं मिले। फिर उन्होने कुछ साथी इकठ्ठे किये और चल दिये अधिक कठोर तपस्या करने। ऐसे करते करते छः वर्ष बाद, बिना अपने प्रश्नों के उत्तर पाएं, भूख के कारण मृत्यु के करीब से गुजरे, वे फिर कुछ और करने के बारे में सोचने लगे। इस समय, उन्हें अपने बचपन का एक पल याद आया, जब उनके पिता खेत तैयार करना शुरू कर रहे थे। उस समय वे एक आनंद भरे ध्यान में पड़ गये थे और उन्हे ऐसा महसूस हुआ था कि समय स्थिर हो गया है

कठोर तपस्या छोड़कर उन्होने अष्टांगिक मार्ग ढूँढ निकाला, जो बीच का मार्ग भी कहलाता जाता है क्योंकि यह मार्ग दोनो तपस्या और असंयम की पराकाष्ठाओं के बीच में है। अपने बदन में कुछ शक्ति डालने के लिये, उन्होने एक बकरी-वाले से कुछ दूध ले लिया। वे एक पीपल के पेड़ (जो अब बोधि पेड़ कहलाता है) के नीचे बैठ गये प्रतिज्ञा करके कि वे सत्य जाने बिना उठेंगे नहीं। 35 की उम्र पर, उन्होने बोधि पाई और वे बुद्ध बन गये। उनका पहिला धर्मोपदेश वाराणसी के पास सारनाथ में था।

अपने बाकी के 45 वर्ष के लिये, गौतम बुद्ध ने गंगा नदी के आस-पास अपना धर्मोपदेश दिया, धनवान और कंगाल लोगों दोनो को। उन्होने दो सन्यासियों के संघ की भी स्थापना जिन्होने बुद्ध के धर्मोपदेश को फैलाना जारी रखा।

अनुयायी गौतम बुद्ध को पूजते हुए, 127 ई.प, ब्रिटिश म्यूजियम

बुद्ध के समकालीन

बुद्ध के प्रमुख गुरु थे- गुरु विश्वामित्र, अलारा, कलम, उद्दाका रामापुत्त ,सूरज आजाद आदि प्रमुख शिष्य थे- आनंद, अनिरुद्ध, महाकश्यप, रानी खेमा

(महिला), महाप्रजापति (महिला), भद्रिका, भृगु, किम्बाल, देवदत्त, उपाली आदि।

प्रमुख प्रचारक- अंगुलिमाल, मिलिंद (यूनानी सम्राट), सम्राट अशोक, ह्वेन त्सांग, फा 'येन, ई जिंग, हे चो, बोधिसत्व आदि।

गुरु विश्वामित्र : सिद्धार्थ ने गुरु विश्वामित्र के पास वेद और उपनिषद् तो पढ़े ही, राजकाज और युद्ध-विद्या की भी शिक्षा ली। कुश्ती, घुड़दौड़, तीर-कमान, रथ हांकने में कोई उसकी बराबरी नहीं कर पाता था।

गुरु अलारा कलम और उद्दाका रामापुत्त – ज्ञान की तलाश में सिद्धार्थ घूमते-घूमते अलारा कलम और उद्दाका रामापुत्त के पास पहुंचे। उनसे उन्होंने योग-साधना सीखी। कई माह तक योग करने के बाद भी जब ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई तो उन्होंने उरुवेला पहुंच कर वहां घोर तपस्या की। छः साल बीत गए तपस्या करते हुए। सिद्धार्थ की तपस्या सफल नहीं हुई। तब एक दिन कुछ स्त्रियां किसी नगर से लौटती हुई वहां से निकलीं, जहां सिद्धार्थ तपस्या कर रहे थे। उनका एक गीत सिद्धार्थ के कान में पड़ा- 'वीणा के तारों को ढीला मत छोड़ दो। ढीला छोड़ देने से उनका सुरीला स्वर नहीं निकलेगा। पर तारों को इतना कसो भी मत कि वे टूट जाएँ।' बात सिद्धार्थ को जंच गई। वह मान गए कि नियमित आहार-विहार से ही योग सिद्ध होता है। अति किसी बात की अच्छी नहीं। किसी भी प्राप्ति के लिए मध्यम मार्ग ही ठीक होता है। बस फिर क्या था कुछ ही समय बाद ज्ञान प्राप्त हो गया।

आनंद - यह बुद्ध और देवदत्त के भाई थे और बुद्ध के दस सर्वश्रेष्ठ शिष्यों में से एक हैं। यह लगातार बीस वर्षों तक बुद्ध की संगत में रहे। इन्हें गुरु का सर्वप्रिय शिष्य माना जाता था। आनंद को बुद्ध के निर्वाण के पश्चात प्रबोधन प्राप्त हुआ। वह अपनी स्मरण शक्ति के लिए प्रसिद्ध थे।

महाकश्यप- महाकश्यप मगध के ब्राह्मण थे, जो तथागत के नजदीकी शिष्य बन गए थे। इन्होंने प्रथम बौद्ध अधिवेशन की अध्यक्षता की थी।

रानी खेमा – रानी खेमा सिद्ध धर्मसंघिनी थीं। यह बीमबिसारा की रानी थीं और अति सुंदर थीं। आगे चलकर खेमा बौद्ध धर्म की अच्छी शिक्षिका बनीं।

महाप्रजापति– महाप्रजापति बुद्ध की माता महामाया की बहन थीं। इन दोनों ने राजा शुद्धोदन से शादी की थी। गौतम बुद्ध के जन्म के सात दिन पश्चात महामाया की मृत्यु हो गई। तत्पश्चात महाप्रजापति ने उनका अपने पुत्र जैसे

पालन-पोषण किया। राजा शुद्धोदन की मृत्यु के बाद बौद्ध मठ में पहली महिला सदस्य के रूप में महाप्रजापिता को स्थान मिला था।

मिलिंद- मिलिंदा यूनानी राजा थे। ईसा की दूसरी सदी में इनका अफगानिस्तान और उत्तरी भारत पर राज था। बौद्ध भिक्षु नागसेना ने इन्हें बौद्ध धर्म की दीक्षा दी और इन्होंने बौद्ध धर्म को अपना लिया था।

सम्राट अशोक- सम्राट अशोक बौद्ध धर्म के अनुयायी और अखंड भारत के सम्राट थे। इन्होंने ईसा पूर्व 207 ईस्वी में मौर्य वंश की नींव को मजबूत किया था। अशोक ने कई वर्षों तक युद्ध करने के बाद बौद्ध धर्म अपनाया था। इसके बाद उन्होंने युद्ध का बहिष्कार किया और शिकार करने पर पाबंदी लगाई। बौद्ध धर्म का तीसरा अधिवेशन अशोक के राज्यकाल के 17वें साल में संपन्न हुआ।

सम्राट अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा को धर्मप्रचार के लिए श्रीलंका भेजा। इनके द्वारा श्रीलंका के राजा तिष्य ने बौद्ध धर्म अपनाया और देवानामप्रिय की उपाधि धारण की, वहां 'महाविहार' नामक बौद्ध मठ की स्थापना की। यह देश आधुनिक युग में भी थेरवाद बौद्ध धर्म का गढ़ है।

कनिष्क – कुषाण राजा कनिष्क के विशाल साम्राज्य में विविध धर्मों के अनुयायी विभिन्न लोगों का निवास था। कनिष्क बौद्ध धर्म का अनुयायी था और बौद्ध इतिहास में उसका नाम अशोक के समान ही महत्त्व रखता है। आचार्य अश्वघोष ने उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। इस आचार्य को वह पाटलिपुत्र से अपने साथ लाया था, और इसी से उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी।

फाह्यान –फाह्यान का जन्म चीन के 'वु-वंग' नामक स्थान पर हुआ था। उसने लगभग 399 ई. में अपने कुछ मित्रों 'हुई-चिंग' 'ताओंचेंग' 'हुई-मिंग' 'हुईवेई' के साथ भारत यात्रा प्रारम्भ की। फाह्यान की भारत यात्रा का उद्देश्य बौद्ध हस्तलिपियों एवं बौद्ध स्मृतियों को खोजना था। फाह्यान बौद्ध धर्म का अनुयायी था, इसीलिए फाह्यान ने उन्ही स्थानों के भ्रमण को महत्त्व दिया, जो बौद्ध धर्म से संबंधित थे।

ह्वेन त्सांग – भारत में ह्वेन त्सांग ने बुद्ध के जीवन से जुड़े सभी पवित्र स्थलों का भ्रमण किया और उन्होंने अपना अधिकांश समय नालंदा मठ में बिताया, जो बौद्ध शिक्षा का प्रमुख केंद्र था। यहां उन्होंने संस्कृत, बौद्ध दर्शन एवं भारतीय चिंतन में दक्षता हासिल करने के बाद अपना संपूर्ण जीवन बौद्ध धर्मग्रंथों के अनुवाद में लगा दिया। उसने लगभग 657 ग्रंथों का अनुवाद किया था और 520 पेटियों में उन्हें भारत से चीन ले गया था।। इस विशाल खंड के केवल

छोटे से हिस्से (1330 अध्यायों में करीब 73 ग्रंथ) के ही अनुवाद में महायान के कुछ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ शामिल हैं।

पालि साहित्य

बुद्ध की शिक्षाओं बुद्ध की शिक्षाओं बुद्ध की शिक्षाओं का ज्ञान हमें पालि त्रिपिटक से ही प्राप्त होता है।

त्रिपिटक (तिपिटक) बुद्ध धर्म का मुख्य ग्रन्थ है। यह पालिभाषा में लिखा गया है। यह ग्रन्थ बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात बुद्ध के द्वारा दिया गया उपदेशौं को सूत्रबद्ध करने का सबसे बृहद प्रयास है। बुद्ध के उपदेश को इस ग्रन्थ में सूत्र (सुत्त) के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सुत्रौं को वर्ग (वग्ग) में बांधा गया है। वग्ग को निकाय (सुत्तपिटक) में वा खण्ड में समाहित किया गया है। निकायौं को पिटक (अर्थ टोकरी) में एकिकृत किया गया है। इस प्रकार से तीन पिटक निर्मित है, जिन के संयोजन को त्रि-पिटक कहा जाता है।

पालिभाषा का त्रिपिटक थेरवादी (और नवयान) बुद्ध परम्परा में श्रीलंका, थाइलैंड, बर्मा, लाओस, कैम्बोडिया, भारत आदि राष्ट्र के बौद्ध धर्म अनुयायी पालना करते है। पालि के तिपिटक को संस्कृत में भी भाषान्तरण किया गया है, जिस को त्रिपिटक कहते है। संस्कृत का पूर्ण त्रिपिटक अभी अनुपलब्ध है। वर्तमान में संस्कृत त्रिपिटक प्रयोजन का जीवित परम्परा सिर्फ नेपाल के नेवार जाति में उपलब्ध है। इस के अलावा तिब्बत, चीन, मंगोलिया, जापान, कोरिया, वियतनाम, मलेशिया, रुस आदि देश में संस्कृत मूल मन्त्र के साथ में स्थानीय भाषा में बौद्ध साहित्य परम्परा पालना करते है।

बुद्ध की शिक्षाएँ

गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद, बौद्ध धर्म के अलग-अलग संप्रदाय उपस्थित हो गये हैं, परंतु इन सब के बहुत से सिद्धांत मिलते हैं।

तथागत बुद्ध ने अपने अनुयायीओं को चार आर्यसत्य, अष्टांगिक मार्ग, दस पारमिता, पंचशील आदी शिक्षाओं को प्रदान किए हैं।

चार आर्य सत्य

तथागत बुद्ध का पहला धर्मोपदेश, जो उन्होंने अपने साथ के कुछ साधुओं को दिया था, इन चार आर्य सत्यों के बारे में था। बुद्ध ने चार आर्य सत्य बताये हैं।

1. दुःख

इस दुनिया में दुःख है। जन्म में, बूढे होने में, बीमारी में, मौत में, प्रियतम से दूर होने में, नापसंद चीजों के साथ में, चाहत को न पाने में, सब में दुःख है।

2. दुःख कारण

तृष्णा, या चाहत, दुःख का कारण है और फिर से सशरीर करके संसार को जारी रखती है।

3. दुःख निरोध

दुःख-निरोध के आठ साधन बताये गये हैं, जिन्हें 'अष्टांगिक मार्ग' कहा गया है।

तृष्णा से मुक्ति पाई जा सकती है।

4. दुःख निरोध का मार्ग

तृष्णा से मुक्ति अष्टांगिक मार्ग के अनुसार जीने से पाई जा सकती है।

अष्टांगिक मार्ग

साँचारूडंपदरू अष्टांगिक मार्ग

बौद्ध धर्म के अनुसार, चौथे आर्य सत्य का आर्य अष्टांग मार्ग है दुःख निरोध पाने का रास्ता। गौतम बुद्ध कहते थे कि चार आर्य सत्य की सत्यता का निश्चय करने के लिए इस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए –

1. सम्यक् दृष्टि– वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानना ही सम्यक् दृष्टि है।

2. सम्यक् संकल्प– आसक्ति, द्वेष तथा हिंसा से मुक्त विचार रखना ही सम्यक् संकल्प है।

3. सम्यक् वाक– सदा सत्य तथा मृदु वाणी का प्रयोग करना ही सम्यक् वाक् है।

4. सम्यक् कर्मात– इसका आशय अच्छे कर्मों में संलग्न होने तथा बुरे कर्मों के परित्याग से है।

5. सम्यक् आजीव– विशुद्ध रूप से सदाचरण से जीवन–यापन करना ही सम्यक् आजीव है।

6. सम्यक् व्यायाम– अकुशल धर्मों का त्याग तथा कुशल धर्मों का अनुसरण ही सम्यक् व्यायाम है।

7. सम्यक् स्मृति– इसका आशय वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप के संबंध में सदैव जागरूक रहना है।

8. सम्यक् समाधिः चित्त की समुचित एकाग्रता ही सम्यक् समाधि है।

कुछ लोग आर्य अष्टांग मार्ग को पथ की तरह समझते है, जिसमें आगे बढ़ने के लिए, पिछले के स्तर को पाना आवश्यक है और लोगों को लगता है कि इस मार्ग के स्तर सब साथ–साथ पाए जाते है। मार्ग को तीन हिस्सों में वर्गीकृत किया जाता है : प्रज्ञा, शील और समाधि।

पंचशील

भगवान बुद्ध ने अपने अनुयायीओं को पाँच शीलो का पालन करने की शिक्षा दि हैं।

1. अहिंसा

पालि में – पाणातिपाता वेरमनी सीक्खापदम् सम्मादीयामी !
अर्थ – मैं प्राणि–हिंसा से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

2. अस्तेय

पाली में – आदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदम् समादियामी
अर्थ – मैं चोरी से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

3. अपरिग्रह

पाली में – कामेसूमीच्छाचारा वेरमणी सिक्खापदम् समादियामी
अर्थ – मैं व्यभिचार से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

4. सत्य

पाली नें – मुसावादा वेरमणी सिक्खापदम् समादियामी
अर्थ – मैं झूठ बोलने से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

5. सभी नशा से विरत

पाली में – सुरामेरय मज्जपमादठटाना वेरमणी सिक्खापदम् समादियामी।

अर्थ – मैं पक्की शराब (सुरा) कच्ची शराब (मेरय), नशीली चीजों (मज्जपमादठटाना) के सेवन से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

बोधि

गौतम बुद्ध से पाई गई ज्ञानता को बोधि कहलाते है। माना जाता है कि बोधि पाने के बाद ही संसार से छुटकारा पाया जा सकता है। सारी पारमिताओं (पूर्णताओं) की निष्पत्ति, चार आर्य सत्यों की पूरी समझ और कर्म के निरोध से ही बोधि पाई जा सकती है। इस समय, लोभ, दोष, मोह, अविद्या, तृष्णा और आत्मां में विश्वास सब गायब हो जाते है। बोधि के तीन स्तर होते है : श्रावकबोधि, प्रत्येकबोधि और सम्यकसंबोधि। सम्यकसंबोधि बौध धर्म की सबसे उन्नत आदर्श मानी जाती है।

दर्शन एवं सिद्धान्त
तीर्थ यात्रा
बौद्ध
धार्मिक स्थल
Dharma Wheel-svg
चार मुख्य स्थल
लुम्बिनी बोध गया
सारनाथ कुशीनगर
चार अन्य स्थल
श्रावस्ती राजगीर
सनकिस्सा वैशाली
अन्य स्थल
पटना गया
कौशाम्बी मथुरा
कपिलवस्तु देवदहा
केसरिया पावा
नालंदा वाराणसी
बाद के स्थल

साँची रत्नागिरी
एल्लोरा अजंता

भरहुत

गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद, बौद्ध धर्म के अलग-अलग संप्रदाय उपस्थित हो गये हैं, परंतु इन सब के बहुत से सिद्धांत मिलते हैं। सभी बौद्ध सम्प्रदाय तथागत बुद्ध के मूल सिद्धांत ही मानते हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत कहता है कि कोई भी घटना केवल दूसरी घटनाओं के कारण ही एक जटिल कारण-परिणाम के जाल में विद्यमान होती है। प्राणियों के लिये, इसका अर्थ है कर्म और विपाक (कर्म के परिणाम) के अनुसार अनंत संसार का चक्र। क्योंकि सब कुछ अनित्य और अनात्मं (बिना आत्मा के) होता है, कुछ भी सच में विद्यमान नहीं है। हर घटना मूलतः शुन्य होती है। परंतु, मानव, जिनके पास ज्ञान की शक्ति है, तृष्णा को, जो दुःख का कारण है, त्यागकर, तृष्णा में नष्ट की हुई शक्ति को ज्ञान और ध्यान में बदलकर, निर्वाण पा सकते हैं। तृष्णा शून्य जीवन केवल विपश्यना से संभव है।

क्षणिकवाद

इस दुनिया में सब कुछ क्षणिक है और नश्वर है। कुछ भी स्थायी नहीं। परन्तु वैदिक मत से विरोध है।

अनात्मवाद

आत्मा का अर्थ 'मै' होता है। किन्तु, प्राणी शरीर और मन से बने है, जिसमे स्थायित्व नहीं है। क्षण-क्षण बदलाव होता है। इसलिए, 'मै' अर्थात आत्मा नाम की कोई स्थायी चीज नहीं। जिसे लोग आत्मा समझते हैं, वो चेतना का अविच्छिन्न प्रवाह है। आत्मा का स्थान मन ने लिया है। आत्मा होती है वह ना तो नष्ट होती है नहीं उत्पन्न वह सदैव से थी है और रहेगी

अनीश्वरवाद

बुद्ध ने ब्रह्म-जाल सूत् में सृष्टि का निर्माण कैसा हुआ, ये बताया है। सृष्टि का निर्माण होना और नष्ट होना बार-बार होता है। ईश्वर या महाब्रह्मा सृष्टि का

निर्माण नहीं करते, क्योंकि दुनिया प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात कार्यकरण-भाव के नियम पर चलती है। भगवान बुद्ध के अनुसार, मनुष्यों के दु:ख और सुख के लिए कर्म जिम्मेदार है, ईश्वर या महाब्रह्मा नहीं। पर अन्य जगह बुद्ध ने सर्वोच्च सत्य को अवर्णनीय कहा है।

शून्यतावाद

शून्यता महायान बौद्ध संप्रदाय का प्रधान दर्शन है। वह अपने ही संप्रदाय के लोगों को महत्त्व देते हैं।

यथार्थवाद

बौद्ध धर्म का मतलब निराशावाद नहीं है। दुख का मतलब निराशावाद नहीं है, लेकिन सापेक्षवाद और यथार्थवाद है । बुद्ध, धम्म और संघ बौद्ध धर्म के तीन त्रिरत्ने हैं। भिक्षु, भिक्षुणी, उपसका और उपसिका संघ के चार अवयव हैं।

बोधिसत्व

दस पारमिताओं का पूर्ण पालन करने वाला बोधिसत्व कहलाता है। बोधिसत्व जब दस बलों या भूमियों (मुदिता, विमला, दीप्ति, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचल, साधुमती, धम्म-मेघा) को प्राप्त कर लेते हैं तब 'बुद्ध' कहलाते हैं। बुद्ध बनना ही बोधिसत्व के जीवन की पराकाष्ठा है। इस पहचान को बोधि (ज्ञान) नाम दिया गया है। कहा जाता है कि बुद्ध शाक्यमुनि केवल एक बुद्ध हैं - उनके पहले बहुत सारे थे और भविष्य में और होंगे। उनका कहना था कि कोई भी बुद्ध बन सकता है, अगर वह दस पारमिताओं का पूर्ण पालन करते हुए बोधिसत्व प्राप्त करे और बोधिसत्व के बाद दस बलों या भूमियों को प्राप्त करे। बौद्ध धर्म का अन्तिम लक्ष्य है सम्पूर्ण मानव समाज से दु:ख का अंत। 'मैं केवल एक ही पदार्थ सिखाता हूँ - दु:ख है, दु:ख का कारण है, दु:ख का निरोध है और दु:ख के निरोध का मार्ग है' (बुद्ध)। बौद्ध धर्म के अनुयायी अष्टांगिक मार्ग पर चलकर न के अनुसार जीकर अज्ञानता और दु:ख से मुक्ति और निर्वाण पाने की कोशिश करते हैं।

सम्प्रदाय

बौद्ध धर्म में संघ का बडा स्थान है। इस धर्म में बुद्ध, धम्म और संघ को 'त्रिरत्न' कहा जाता है। संघ के नियम के बारे में गौतम बुद्ध ने कहा था कि

छोटे नियम भिक्षुगण परिवर्तन कर सकते है। उन के महापरिनिर्वाण पश्चात् संघ का आकार में व्यापक वृद्धि हुआ। इस वृद्धि के पश्चात विभिन्न क्षेत्र, संस्कृति, सामाजिक अवस्था, दीक्षा, आदि के आधार पर भिन्न लोग बुद्ध धर्म से आबद्ध हुए और संघ का नियम धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा। साथ ही में अंगुत्तर निकाय के कालाम सुत्त में बुद्ध ने अपने अनुभव के आधार पर धर्म पालन करने की स्वतन्त्रता दी है। अतः, विनय के नियम में परिमार्जन-परिवर्तन, स्थानीय सांस्कृतिक-भाषिक पक्ष, व्यक्तिगत धर्म का स्वतन्त्रता, धर्म के निश्चित पक्ष में ज्यादा वा कम जोड आदि कारण से बुद्ध धर्म में विभिन्न सम्प्रदाय वा संघ में परिमार्जित हुए। वर्तमान में, इन संघ में प्रमुख सम्प्रदाय या पंथ थेरवाद, महायान और वज्रयान है। भारत में बौद्ध धर्म का नवयान संप्रदाय है जो पुर्णत शुद्ध, मानवतावादी और विज्ञानवादी है।

थेरवाद

साँचा रूडंपदरूथेरवाद

श्रावकयान

प्रत्येकबुद्धयान

थेरवाद बुद्ध के मौलिक उपदेश ही मानता है।

श्रीलंका, थाईलैंड, म्यान्मार, कम्बोडिया, लाओस, बांग्लादेश, नेपाल आदी देशों में थेरवाद बौद्ध धर्म का प्रभाव हैं।

महायान

साँचारूडंपदरूमहायान

महायान बुद्ध की वास्तविक शिक्षाओं का पालन नहीं करता ।

बुद्ध के अलावा हजारों बोधिसत्व की पूजा करता है।

बोधिसत्त्वयान

बोधिसत्त्वसुत्रयान

बोधिसत्त्वतन्त्रयान / वज्रयान

महायान में बुद्ध की पूजा करता है।

चीन, जापान, उत्तर कोरिया, वियतनाम, दक्षिण कोरिया आदी देशों में प्रभाव हैं।

वज्रयान

साँचारूडंपदरूवज्रयान

वज्रयान को तिब्बती तांत्रिक धर्म भी कहां जाता हैं।

भूटान में राष्ट्रधर्म

भूटान, तिब्बत और मंगोलिया में प्रभाव

नवयान

साँचारूडंपदरूनवयान

बुद्ध के मूल सिद्धांतों का अनुसरण

महायान, वज्रयान, थेरवाद के कई शुद्ध सिद्धांत

अंधविश्वास नहीं हैं।

विज्ञानवाद पर विश्वास

भारत में (मुख्यत महाराष्ट्र में) प्रभाव

प्रमुख तीर्थ

भगवान बुद्ध के अनुयायीओं के लिए विश्व भर में पाँच मुख्य तीर्थ मुख्य माने जाते हैं–

तीर्थ यात्रा

बौद्ध

धार्मिक स्थल

Dharma Wheel-svg

चार मुख्य स्थल

लुम्बिनी बोध गया

सारनाथ कुशीनगर

चार अन्य स्थल

श्रावस्ती राजगीर

सनकिस्सा वैशाली

अन्य स्थल

पटना गया

कौशाम्बी मथुरा

कपिलवस्तु देवदहा

केसरिया पावा

नालंदा वाराणसी
बाद के स्थल
साँची रत्नागिरी
एल्लोरा अजंता

भरहुत

(1) लुम्बिनी - जहां भगवान बुद्ध का जन्म हुआ।
(2) बोधगया - जहां बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त हुआ।
(3) सारनाथ - जहां से बुद्ध ने दिव्यज्ञान देना प्रारंभ किया।
(4) कुशीनगर - जहां बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ।
(5) दीक्षाभूमि, नागपुर - जहां भारत में बौद्ध धर्म का पुन:त्थान हुआ।

लुम्बिनी

माया देवी मंदिर, लुंबिनी, नेपाल

यह स्थान नेपाल की तराई में नौतनवां रेलवे स्टेशन से 25 किलोमीटर और गोरखपुर-गोंडा लाइन के नौगढ़ स्टेशन से करीब 12 किलोमीटर दूर है। अब तो नौगढ़ से लुम्बिनी तक पक्की सडक भी बन गई है। ईसा पूर्व 563 में राजकुमार सिद्धार्थ गौतम (बुद्ध) का जन्म यहीं हुआ था। हालांकि, यहां के बुद्ध के समय के अधिकतर प्राचीन विहार नष्ट हो चुके हैं। केवल सम्राट अशोक का एक स्तंभ अवशेष के रूप में इस बात की गवाही देता है कि भगवान बुद्ध का जन्म यहां हुआ था। इस स्तंभ के अलावा एक समाधि स्तूप में बुद्ध की एक मूर्ति है। नेपाल सरकार ने भी यहां पर दो स्तूप और बनवाए हैं।

बोधगया

करीब छह साल तक जगह-जगह और विभिन्न गुरुओं के पास भटकने के बाद भी बुद्ध को कहीं परम ज्ञान न मिला। इसके बाद वे गया पहुंचे। आखिर में उन्होंने प्रण लिया कि जब तक असली ज्ञान उपलब्ध नहीं होता, वह पिपल वृक्ष के नीचे से नहीं उठेंगे, चाहे उनके प्राण ही क्यों न निकल जाएं। इसके बाद करीब छह दिन तक दिन रात एक पिपल वृक्ष के नीचे भूखे-प्यासे तप किया।

आखिर में उन्हें परम ज्ञान या बुद्धत्व उपलब्ध हुआ। सिद्धार्थ गौतम अब बुद्धत्व पाकर आकाश जैसे अनंत ज्ञानी हो चूके थे। जिस पिपल वृक्ष के नीचे वह बैठे, उसे बोधि वृक्ष यानी ज्ञान का वृक्ष कहां जाता है। वहीं गया को तक बोधगया (बुद्ध गया) के नाम से जाना जाता है।

सारनाथ

धामेक स्तूप के पास प्राचीण बौद्ध मठ, सारनाथ, उत्तर प्रदेश, भारत बनारस छावनी स्टेशन से छः किलोमीटर, बनारस-सिटी स्टेशन से साढ़े तीन किलोमीटर और सडकघ मार्ग से सारनाथ चार किलोमीटर दूर पड़ता है। यह पूर्वोत्तर रेलवे का स्टेशन है और बनारस से यहां जाने के लिए सवारी तांगा और रिक्शा आदि मिलते हैं। सारनाथ में बौद्ध-धर्मशाला है। यह बौद्ध तीर्थ है। लाखों की संख्या में बौद्ध अनुयायी और बौद्ध धर्म में रुचि रखने वाले लोग हर साल यहां पहुंचते हैं। बौद्ध अनुयायीओं के यहां हर साल आने का सबसे बड़ा कारण यह है कि भगवान बुद्ध ने अपना प्रथम उपदेश यहीं दिया था। सदियों पहले इसी स्थान से उन्होंने धर्म-चक्र-प्रवर्तन प्रारंभ किया था। बौद्ध अनुयायी सारनाथ के मिट्टी, पत्थर एवं कंकरों को भी पवित्र मानते हैं। सारनाथ की दर्शनीय वस्तुओं में अशोक का चतुर्मुख सिंह स्तंभ, भगवान बुद्ध का प्राचीन मंदिर, धामेक स्तूप, चौखंडी स्तूप, आदि शामिल हैं।

कुशीनगर

कुशीनगर बौद्ध अनुयायीओं का बहुत बड़ा पवित्र तीर्थ स्थल है। भगवान बुद्ध कुशीनगर में ही महापरिनिर्वाण को प्राप्त हुए। कुशीनगर के समीप हिरन्यवती नदी के समीप बुद्ध ने अपनी आखरी सांस ली। रंभर स्तूप के निकट उनका अंतिम संस्कार किया गया। उत्तर प्रदेश के जिला गोरखपुर से 55 किलोमीटर दूर कुशीनगर बौद्ध अनुयायीओं के अलावा पर्यटन प्रेमियों के लिए भी खास आकर्षण का केंद्र है। 80 वर्ष की आयु में शरीर त्याग से पहले भारी संख्या में लोग बुद्ध से मिलने पहुंचे। माना जाता है कि 120 वर्षीय ब्राह्मण सुभद्र ने बुद्ध के वचनों से प्रभावित होकर संघ से जुडने की इच्छा जताई। माना जाता है कि सुभद्र आखरी भिक्षु थे जिन्हें बुद्ध ने दीक्षित किया।

दीक्षाभूमी

दीक्षाभूमि, नागपुर, महाराष्ट्र, भारत दीक्षाभूमि, नागपुर महाराष्ट्र राज्य के नागपुर शहर में स्थित पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण बौद्ध तीर्थ स्थल है। बौद्ध धर्म भारत में 12वी शताब्धी तक रहा, बाद हिंदूओं और मुस्लिमों के हिंसक संघर्ष से शांतिवादी बौद्ध धर्म का प्रभाव कम होता गया और 12वी शताब्दी में जैसे बौद्ध धर्म भारत से गायब हो गया। 12वी से 20वी शताब्धी त7 हिमालयीन प्रदेशों के अलावा पुरे भारत में बौद्ध धर्म के अनुयायीओं की संख्या बहूत ही कम रही। लेकिन, दलितों के मसिहा डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर ने 20वी शताब्दी के मध्य में अशोक विजयादशमी के दिन 14 अक्टूबर, 1956 को पहले स्वयं अपनी पत्नी डॉ. सविता आंबेडकर के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और फिर अपने 5,00,000 हिंदू दलित समर्थकों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। बौद्ध धर्म की दीक्षा देने के लिए बाबासाहेब ने त्रिशरण, पंचशील एवं अपनी 22 प्रतिज्ञाँए अपने नव-बौद्धों को दी। अगले दिन नागपुर में 15 अक्टूबर को फिर बाबासाहेब ने 3,00,000 लोगों को धम्म दीक्षा देकर बौद्ध बनाया, तीसरे दिन 16 अक्टूबर को बाबासाहेब दीक्षा देने हेतू चंद्रपुर गये, वहां भी उन्होंने 3,00,000 लोगों को बौद्ध धम्म की दीक्षा दी। इस तरह सिर्फ तीन दिन में डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर ने 10,00,000 से अधिक लोगों को बौद्ध धर्म की दिक्षा देकर विश्व के बौद्धों को जनसंख्या 10 लाख बढा दी। यह विश्व का सबसे बडा धार्मिक रूपांतरण या धर्मांतरण माना जाता है। बौद्ध विद्वान, बोधिसत्व डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर ने भारत में बौद्ध धर्म का पुनरूत्थान किया। एक सर्वेक्षण के अनुसार मार्च 1959 तक लगभग 1.5 से 2 करोड़ दलितों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। 1956 से आज तक हर साल यहाँ देश और विदशों से 20 से 25 लाख बुद्ध और बाबासाहेब के बौद्ध अनुयायी दर्शन करने के लिए आते है। इस प्रवित्र एवं महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थल को महाराष्ट्र सरकार द्वारा 'अवर्ग पर्यटन एवं तीर्थ स्थल का दर्जा दिया गया है।

बौद्ध समुदाय

संपूर्ण विश्व में लगभग 53 करोड़ बौद्ध हैं। इनमें से लगभग 70% महायानी बौद्ध और शेष 25% से 30% थेरावादी, नवयानी (भारतीय) और वज्रयानी बौद्ध है। महायान और थेरवाद (हीनयान), नवयान, वज्रयान के अतिरिक्त बौद्ध धर्म

में इनके अन्य कई उपसंप्रदाय या उपवर्ग भी हैं परन्तु इन का प्रभाव बहुत कम है। सबसे अधिक बौद्ध पूर्वी एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में रहते हैं। दक्षिण एशिया के दो देशों में भी बौद्ध धर्म बहुसंख्यक है। अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, अफ्रीका और यूरोप जैसे महाद्वीपों में भी बौद्ध रहते हैं। विश्व में लगभग 8 से अधिक देश ऐसे हैं, जहां बौद्ध बहुसंख्यक या बहुमत में हैं। विश्व में कई देश ऐसे भी हैं जहां की बौद्ध जनसंख्या के बारे में कोई विश्वसनीय जानकारी उपलब्ध नहीं है।

4

जैन धर्म

जैन धर्म विश्व के सबसे प्राचीन दर्शन या धर्म, सनातन हिंदू में से निकला एक धर्म है। यह भारत की श्रमण परम्परा से निकला तथा इसके प्रवर्तक हैं 24 तीर्थंकर, जिनमें अंतिम व प्रमुख महावीर स्वामी हैं। जैन धर्म की अत्यंत प्राचीनता करने वाले अनेक उल्लेख साहित्य और विशेषकर पौराणिक साहित्यो में प्रचुर मात्रा में हैं। वैदिक दर्शन का प्रभाव भी इनके साहित्य में दिखाई पड़ता है। श्वेतांबर व दिगंबर जैन धर्म के दो सम्प्रदाय हैं, तथा इनके धर्मग्रंथ आगम, महापुराण, व तत्त्वार्थ सूत्र हैं। जैनों के धार्मिक स्थल, जिनालय या मंदिर कहलाते हैं।

'जिन परम्परा' का अर्थ है – 'जिन द्वारा प्रवर्तित दर्शन'। जो 'जिन' के अनुयायी हों उन्हें 'जैन' कहते हैं। 'जिन' शब्द बना है संस्कृत के 'जि' धातु से। 'जि' माने – जीतना। 'जिन' माने जीतने वाला। जिन्होंने अपने मन को जीत लिया, अपनी तन मन वाणी को जीत लिया और विशिष्ट आत्मज्ञान को पाकर सर्वज्ञ या पूर्णज्ञान प्राप्त किया उन आप्त पुरुष को जिनेन्द्र या जिन कहा जाता हैश। जैन धर्म अर्थात 'जिन' भगवान् का धर्म।

अहिंसा जैन धर्म का मूल सिद्धान्त है। इसे बड़ी सख्ती से पालन किया जाता है खानपान आचार नियम में विशेष रुप से देखा जा सकता है।

जैन दर्शन में भगवान से कण कण स्वतंत्र है इस सदृष्टि का या किसी जीव का कोई कर्त्ताधर्ता नहीं है। सभी जीव अपने अपने कर्मों का फल भोगते

है। जैन दर्शन के भगवान कर्त्ता और नहीं भोगता नहीं माने जाते। जैन दर्शन में सृष्टिकर्त्ता को स्थान नहीं दिया गया है। जैन धर्म में अनेक शासन देवी-देवता हैं पर उनकी आराधना को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। जैन धर्म में तीर्थंकरों जिन्हें जिनदेव, जिनेंद्र या वीतराग भगवान कहा जाता है इनकी आराधना का ही विशेष महत्त्व है। इन्हीं तीर्थंकरों का अनुसरण कर आत्मबोध, ज्ञान और तन और मन पर विजय पाने का प्रयास किया जाता है।

भगवान

जैन ईश्वर को मानते हैं जो सर्व शक्तिशाली त्रिलोक का ज्ञाता द्रष्टा है पर त्रिलोक का कर्त्ता नहीं। जैन धर्म में जिन या अरिहन्त और सिद्ध को ईश्वर मानते हैं। अरिहंतो और केवलज्ञानी की आयुष्य पूर्ण होने पर जब वे जन्ममरण से मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त करते है तब उन्हें सिद्ध कहा जाता है। उन्हीं की आराधना करते हैं और उन्हीं के निमित्त मंदिर आदि बनवाते हैं। जैन ग्रन्थों के अनुसार अर्हत् देव ने संसार को द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अनादि बताया है। जगत् का न तो कोई कर्त्ता है और न जीवों को कोई सुख दु:ख देने वाला है। अपने अपने कर्मों के अनुसार जीव सुख दु:ख पाते हैं। जीव या आत्मा का मूल स्वभान शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानंदमय है, केवल पुदगल या कर्म के आवरण से उसका मूल स्वरुप आच्छादित हो जाता है। जिस समय यह पौद्गलिक भार हट जाता है उस समय आत्मा परमात्मा की उच्च दशा को प्राप्त होता है। जैन मत 'स्याद्वाद' के नाम से भी प्रसिद्ध है। स्याद्वाद का अर्थ है अनेकांतवाद अर्थात् एक ही पदार्थ में नित्यत्व और अनित्यत्व, सादृश्य और विरुपत्व, सत्व और असत्व, अभिलाष्यत्व और अनभिलाष्यत्व आदि परस्पर भिन्न धर्मों का सापेक्ष स्वीकार। इस मत के अनुसार आकाश से लेकर दीपक पर्यंत समस्त पदार्थ नित्यत्व और अनित्यत्व आदि उभय धर्म युक्त है।

दर्शन

जैनधर्म के सिद्धान्त

अहिंसा परमो धर्म–रागद्वेषी शत्रुओं पर विजय पाने के कारण 'वर्धमान महावीर' की उपाधि 'जिन' थी। अत: उनके द्वारा प्रचारित धर्म 'जैन' कहलाता है।जैन धर्म में अहिंसा को परमधर्म माना गया है। सब जीव जीना चाहते हैं, मरना

कोई नहीं चाहता, अतएव इस धर्म में प्राणिवध के त्याग का सर्वप्रथम उपदेश है। केवल प्राणों का ही वध नहीं, बल्कि दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले असत्य भाषण को भी हिंसा का एक अंग बताया है। महावीर ने अपने भिक्षुओं को उपदेश देते हुए कहा है कि उन्हें बोलते-चालते, उठते-बैठते, सोते और खाते-पीते सदा यत्नशील रहना चाहिए। अयत्नाचार पूर्वक कामभोगों में आसक्ति ही हिंसा है, इसलिये विकारों पर विजय पाना, इंद्रियों का दमन करना और अपनी समस्त वृत्तियों को संकुचित करने को जैनधर्म में सच्ची अहिंसा बताया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीवन है, अतएव पृथ्वी आदि एकेंद्रिय जीवों की हिंसा का भी इस धर्म में निषेध है।

जैनधर्म का दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है कर्म। महावीर ने बार बार कहा है कि जो जैसा अच्छा, बुरा कर्म करता है उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है तथा मनुष्य चाहे जो प्राप्त कर सकता है, चाहे जो बन सकता है, इसलिये अपने भाग्य का विधाता वह स्वयं है। जैनधर्म में ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नहीं माना गया, तप आदि सत्कर्मों द्वारा आत्मविकास की सर्वोच्च अवस्था को ही ईश्वर बताया है। यहाँ नित्य, एक अथवा मुक्त ईश्वर को अथवा अवतारवाद को स्वीकार नहीं किया गया। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, अंतराय, आयु, नाम और गोत्र इन आठ कर्मों का नाश होने से जीव जब कर्म के बंधन से मुक्त हो जाता है तो वह ईश्वर बन जाता है तथा राग-द्वेष से मुक्त हो जाने के कारण वह सृष्टि के प्रपंच में नहीं पड़ता।

जैन धर्म के मुख्यतः दो सम्प्रदाय हैं श्वेताम्बररूउजला वस्त्र पहनने वाला)और दिगम्बर(नग्न रहने वाला) ।

जैनधर्म में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नाम के छरू द्रव्य माने गए हैं। ये द्रव्य लोकाकाश में पाए जाते हैं, अलोकाकाश में केवल आकाश ही है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व है। इन तत्त्वों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन के बाद सम्यग्ज्ञान और फिर व्रत, तप, संयम आदि के पालन करने से सम्यक्चारित्र उत्पन्न होता है। इन तीन रत्नों को मोक्ष का मार्ग बताया है। जैन सिद्धांत में रत्नत्रय की पूर्णता प्राप्त कर लेने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। ये 'रत्नत्रय ' हैं-सम्यक् दर्शन ,सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य।मोक्ष होने पर जीव समस्त कर्मों के बंधन से मुक्त हो जाता है, और ऊर्ध्वगति होने के कारण वह लोक के अग्रभाग में सिद्धशिला पर अवस्थित हो जाता है। उसे अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख

और अनंत वीर्य की प्राप्ति होती है और वह अंतकाल तक वहाँ निवास करता है, वहाँ से लौटकर नहीं आता।

अनेकान्तवाद जैनधर्म का तीसरा मुख्य सिद्धांत है। इसे अहिंसा का ही व्यापक रूप समझना चाहिए। राग द्वेषजन्य संस्कारों के वशीभूत ने होकर दूसरे के दृष्टि बिंदु को ठीक-ठीक समझने का नाम अनेकांतवाद है। इससे मनुष्य सत्य के निकट पहुँच सकता है। इस सिद्धांत के अनुसार किसी भी मत या सिद्धांत को पूर्ण रूप से सत्य नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक मत अपनी अपनी परिस्थितयों और समस्याओं को लेकर उद्भूत हुआ है, अतएव प्रत्येक मत में अपनी अपनी विशेषताएँ हैं। अनेकांतवादी इन सबका समन्वय करके आगे बढ़ता है। आगे चलकर जब इस सिद्धांत को तार्किक रूप दिया गया तो यह स्याद्वाद नाम से कहा जाने लगा तथा, स्यात् अस्ति' 'स्यात् नास्ति' स्यात् अस्ति नास्ति' 'स्यात् अवक्तव्य,' 'स्यात् अस्ति अवक्तव्य' 'स्यात् नास्ति अवक्तव्य' और 'स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य' इन सात भागों के कारण सप्तभंगी नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पार्श्वनाथ के चार महाव्रत थे–

1.अहिंसा, 2. सत्य, 3. अस्तेय तथा 4. अपरिग्रह।

महावीर ने पाँचवा महाव्रत 'ब्रह्मचर्य' के रूप में भी स्वीकारा। जैन सिद्धांतों की संख्या 45 है,जिनमें 11 अंग हैं।

जैन सम्प्रदाय में पंचास्तिकायसार,समयसार और प्रवचनसार को 'नाटकत्रयी ' कहा जाता है।

जैन के मत में 3 प्रमाण हैं-प्रत्यक्ष,अनुमान तथा आगम(आगम)।

आचार-विचार

जैन धर्म में आत्मशुद्धि पर बल दिया गया है। आत्मशुद्धि प्राप्त करने के लिये जैन धर्म में देह-दमन और कष्टसहिष्णुता को मुख्य माना गया है। निर्ग्रंथ और निष्परिग्रही होने के कारण तपस्वी महावीर नग्न अवस्था में विचरण किया करते थे। यह बाह्य तप भी अंतरंग शुद्धि के लिये ही किया जाता था। प्राचीन जैन सूत्रों में कहा गया है कि भले ही कोई नग्न अवस्था में रहे या एक एक महीने उपवास करे, किंतु यदि उसके मन में माया है तो उसे सिद्धि मिलने वाली नहीं। जैन आचार-विचार के पालन करने को 'शूरों का मार्ग' कहा गया है। जैसे लोहे के चने चबाना, बालू का ग्रास भक्षण करना, समुद्र को भुजाओं से पार करना

और तलवार की धार पर चलना दुस्साध्य है, वैसे ही निर्ग्रंथ प्रवचन के आचरण को भी दुस्साध्य कहा गया है।

बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म में भी जातिभेद को स्वीकार नहीं किया गया। प्राचीन जैन ग्रंथों में कहा गया है कि सच्चा ब्राह्मण वही है, जिसने राग, द्वेष और भय पर विजय प्राप्त की है और जो अपनी इंद्रियों पर निग्रह रखता है। जैन धर्म में अपने अपने कर्मों के अनुसार ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र की कल्पना की गई है, किसी जाति विशेष में उत्पन्न होने से नहीं। महावीर ने अनेक म्लेच्छ, चोर, डाकू, मछुए, वेश्या और चांडालपुत्रों को जैन धर्म में दीक्षित किया था। इस प्रकार के अनेक कथानक जैन ग्रंथों में पाए जाते हैं।

जैन धर्म के सभी तीर्थकर क्षत्रिय कुल में हुए थे। इससे मालूम होता है कि पूर्वकाल में जैन धर्म क्षत्रियों का धर्म था, लेकिन आजकल अधिकांश वैश्य लोग ही इसके अनुयायी हैं। वैसे दक्षिण भारत में सेतवाल आदि कितने ही जैन खेतीबारी का धंधा करते हैं। पंचमों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के धंधे करनेवाले लोग पाए जाते हैं। जिनसेन मठ (कोल्हापुर) के अनुयायियों को छोड़कर और किसी मठ के अनुयायी चतुर्थ नहीं कहे जाते। चतुर्थ लोग साधारणतया खेती और जमींदारी करते हैं। सतारा और बीजापुर जिलों में कितने ही जैन धर्म के अनुयायी जुलाहे, छिपी, दर्जी, सुनार और कसेरे आदि का पेशा करते हैं।

सात तत्त्व

जैन ग्रंथों में सात तत्त्वों का वर्णन मिलता हैं। यह हैं–

जीव– जैन दर्शन में आत्मा के लिए 'जीव' शब्द का प्रयोग किया गया हैं। आत्मा द्रव्य जो चौतन्यस्वरुप है।

अजीव– जड़ या की अचेतन द्रव्य को अजीव (पुद्गल) कहा जाता है।

आस्रव – पुद्गल कर्मों का आस्रव करना

बन्ध– आत्मा से कर्म बन्धना

संवर– कर्म बन्ध को रोकना

निर्जरा– कर्मों को क्षय करना

मोक्ष – जीवन व मरण के चक्र से मुक्ति को मोक्ष कहते हैं।

व्रत

जैन धर्म में श्रावक और मुनि दोनों के लिए पाँच व्रत बताए गए है। तीर्थंकर आदि महापुरुष जिनका पालन करते है, वह महाव्रत कहलाते है –

अहिंसा – किसी भी जीव को मन, वचन, काय से पीड़ा नहीं पहुँचाना। किसी जीव के प्राणों का घात नहीं करना।

सत्य – हित, मित, प्रिय वचन बोलना।

अस्तेय – बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण नहीं करना।

ब्रह्मचर्य – मन, वचन, काय से मैथुन कर्म का त्याग करना।

अपरिग्रह– पदार्थों के प्रति ममत्वरूप परिणमन का बुद्धिपूर्वक त्याग।

मुनि इन व्रतों का सूक्ष्म रूप से पालन करते है, वही श्रावक स्थूल रूप से करते है।

नौ पदार्थ

जैन ग्रंथों के अनुसार जीव और अजीव, यह दो मुख्य पदार्थ हैं। आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप अजीव द्रव्य के भेद हैं।

छह द्रव्य

छः शाश्वत द्रव्य

जैन धर्म के अनुसार लोक 6 द्रव्यों (नइेजंदबम) से बना है। यह 6 द्रव्य शाश्वत हैं अर्थात इनको बनाया या मिटाया नहीं जा सकता। यह है जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल।

त्रिरत्न

सम्यक् दर्शन–सम्यक् दर्शन को प्रगताने के लिए तत्त्व निर्णय की साधना करनी चहिये द्य तत्त्व निर्णय–मै इस शरीर आदि से भिन्न एक अखंड अविनाशी चौतन्य तत्त्व भगवान आत्मा हू, यह शरीरादी मै नहीं और यह मेरे नहीं।

सम्यक् ज्ञान – सम्यक ज्ञान प्रगताने के लिए भेद ज्ञान की साधना करनी चहिये द्य भेद ज्ञान – जिस जीव का, जिस दृव्य का जिस समय जो कुछ भी होना है, वह उसकी तत्समय की योग्यतानुसार हो रहा है और होगा। उसे कोई ताल फेर बदल सकता नहीं।

सम्यक् चारित्र – सम्यक चारित्र की साधना के लिए वस्तु स्वरुप की साधना करना चहिये। सम्यक चरित्र का तात्पर्य नैतिक आचरण से है। पंचमहाव्रत का पालन ही शिक्षा है, जो चरित्र निर्माण करती है।

यह रत्नत्रय आत्मा को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहता। सम्यक्त्व के आठ अंग है कृनि:शंकितत्त्व, नि:कांक्षितत्त्व, निर्विचिकित्सत्त्व, अमूढदृष्टित्व, उपबृंहन। उपगूहन, स्थितिकरण, प्रभावना, वात्सल्य।

चार कषाय

क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषाय है, जिनके कारण कर्मों का आस्रव होता है। इन चार कषाय को संयमित रखने के लिए माध्यस्थता, करुणा, प्रमोद, मैत्री भाव धारण करना चहिये।

चार गति

चार गतियाँ जिनमें संसरी जीव का जन्म मरण होता रहता हैकृ देव गति, मनुष्य गति, तिर्यंच गति, नर्क गति। मोक्ष को पंचम गति भी कहा जाता है।

चार निक्षेप

नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप, भाव निक्षेप।

अहिंसा

अहिंसा और जीव दया पर बहुत जोर दिया जाता है। सभी जैन शाकाहारी होते हैं।अहिंसा का पालन करना सभी मुनियो और श्रावकों का परम धर्म होता है। जैन धर्म का मुख्य वाक्य हि 'अहिंसा परमो धर्म' है।

अनेकान्तवाद

अनेकान्त का अर्थ है– किसी भी विचार या वस्तु को अलग अलग दष्टिकोण से देखना, समझना, परखना और सम्यक भेद द्धारा सर्व हितकारी विचार या वस्तु को मानना ही अंनेकात है।

स्यादवाद

स्यादवाद का अर्थ है– विभिन्न अपेक्षाओं से वस्तुगत अनेक धर्मों का प्रतिपादन।

मन्त्र

जैन धर्म का परम पवित्र और अनादि मूलमंत्र है–

णमो अरिहंताणं। णमो सिद्धाणं। णमो आइरियाणं।

णमो उवज्झायाणं। णमो लोए सव्वसाहूणंघ

अर्थात अरिहंतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, सर्व साधुओं को नमस्कार। ये पंच परमेष्ठी हैं।

काल चक्र

जैन कालचक्र दो भाग में विभाजित है : उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी

जिस प्रकार काल हिंदुओं में मन्वंतर कल्प आदि में विभक्त है उसी प्रकार जैन में काल दो प्रकार का हैकृ उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। अवसर्पिणी काल में समयावधि,हर वस्तु का मान,आयु,बल इत्यादि घटता है जबकि उत्सर्पिणी में समयावधि,हर वस्तु का मान और आयु, बल इत्यादि बढ़ता है इन दोनों का कालमान दस क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम का होता है अर्थात एक समयचक्र बीस क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम का होता है। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 नारायण और 9 प्रतिनारायण का जन्म होता है। इन्हें त्रिसठ 'लाकापुरुष कहा जाता है। ऊपर जो 24 तीर्थंकर गिनाए गए हैं वे वर्तमान अवसर्पिणी के हैं। प्रत्येक उत्सिर्पिणी या अवसर्पिणी में नए नए जीव तीर्थंकर हुआ करते हैं। इन्हीं तीर्थंकरों के उपदेशों को लेकर गणधर लोग द्वादश अंगो की रचना करते हैं। ये ही द्वादशांग जैन धर्म के मूल ग्रंथ माने जाते है।

इतिहास

जैन धर्म कितना प्राचीन है, ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। जैन ग्रंथो के अनुसार जैन धर्म अनादिकाल से है। महावीर स्वामी या वर्धमान ने ईसा से 468 वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त किया था। इसी समय से पीछे कुछ लोग विशेषकर यूरोपियन विद्वान् जैन धर्म का प्रचलित होना मानते हैं। जैनों ने अपने ग्रंथों को आगम, पुराण आदि में विभक्त किया है। प्रो. जेकोबी आदि के आधुनिक अन्वेषणों के अनुसार यह सिद्ध किया गया है की जैन धर्म बौद्ध धर्म से पहले का है। उदयगिरि, जूनागढ आदि के शिलालेखों से भी जैनमत की प्राचीनता पाई जाती है। हिन्दू ग्रन्थ, स्कन्द पुराण (अध्याय 37) के अनुसाररू 'ऋषभदेव

नाभिराज के पुत्र थे, ऋषभ के पुत्र भरत थे, और इनके ही नाम पर इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा'।

भारतीय ज्योतिष में यूनानियों की शैली का प्रचार विक्रमीय संवत् से तीन सौ वर्ष पीछे हुआ। पर जैनों के मूल ग्रंथ अंगों में यवन ज्योतिष का कुछ भी आभास नहीं है। जिस प्रकार वेद संहिता में पंचवर्षात्मक युग है और कृत्तिका से नक्षत्रों की गणना है उसी प्रकार जैनों के अंग ग्रंथों में भी है। इससे उनकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

भगवान महावीर के बाद

भगवान महावीर के पश्चात इस परम्परा में कई मुनि एवं आचार्य भी हुए है, जिनमें से प्रमुख हैं-

भगवान महावीर के पश्चात 62 बर्ष में तीन केवली (527-465 ई.पू.)
आचार्य गौतम गणधर (607-515 ई.पू.)
आचार्य सुधर्मास्वामी (607-507 ई.पू.)
आचार्य जम्बूस्वामी (542-465 ई.पू.)
इसके पश्चात 100 बर्षो में पॉच श्रुत केवली (465-365 ई.पू.)
आचार्य भद्रबाहु- अंतिम श्रुत केवली (433-357)
आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी (200 A-D-)
आचार्य उमास्वामी (200 A-D-)
आचार्य समन्तभद्र
आचार्य पूज्यपाद (474-525)
आचार्य वीरसेन (790-825)
आचार्य जिनसेन (800-880)
आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती

सम्प्रदाय

तीर्थंकर महावीर के समय तक अविछिन्न रही जैन परंपरा ईसा की तीसरी सदी में दो भागों में विभक्त हो गयी : दिगंबर और श्वेताम्बर। मुनि प्रमाणसागर जी ने जैनों के इस विभाजन पर अपनी रचना 'जैनधर्म और दर्शन' में विस्तार से लिखा है कि आचार्य भद्रबाहु ने अपने ज्ञान के बल पर जान लिया था कि उत्तर भारत में 12 वर्ष का भयंकर अकाल पड़ने वाला है, इसलिए उन्होंने सभी

साधुओं को निर्देश दिया कि इस भयानक अकाल से बचने के लिए दक्षिण भारत की ओर विहार करना चाहिए। आचार्य भद्रबाहु के साथ हजारों जैन मुनि (निर्ग्रन्थ) दक्षिण की ओर वर्तमान के तमिलनाडु और कर्नाटक की ओर प्रस्थान कर गए और अपनी साधना में लगे रहे। परन्तु कुछ जैन साधु उत्तर भारत में ही रुक गए थे। अकाल के कारण यहाँ रुके हुए साधुओं का निर्वाह आगमानुरूप नहीं हो पा रहा था इसलिए उन्होंने अपनी कई क्रियाएँ शिथिल कर लीं, जैसे कटि वस्त्र धारण करना, 7 घरों से भिक्षा ग्रहण करना, 14 उपकरण साथ में रखना आदि। 12 वर्ष बाद दक्षिण से लौट कर आये साधुओं ने ये सब देखा तो उन्होंने यहाँ रह रहे साधुओं को समझाया कि आप लोग पुनः तीर्थंकर महावीर की परम्परा को अपना लें पर साधु राजी नहीं हुए और तब जैन धर्म में दिगंबर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदाय बन गए।

दिगम्बर

गोमतेश्वर की प्रतिमा (श्रवणबेलगोला)

दिगम्बर साधु (निर्ग्रन्थ) वस्त्र नहीं पहनते है, नग्न रहते हैंद्यदिगम्बर मत में तीर्थकरों की प्रतिमाएँ पूर्ण नग्न बनायी जाती हैं और उनकाश्रृंगार नहीं किया है। दिगंबर समुदाय तीन भागों विभक्त हैं।

तारणपंथ

दिगम्बर तेरापन्थ

बीसपंथ

श्वेताम्बर

श्वेताम्बर एवं साध्वियाँ और संन्यासी श्वेत वस्त्र पहनते हैं, तीर्थकरों की प्रतिमाएँ प्रतिमा पर धातु की आंख, कुंडल सहित बनायी जाती हैं और उनका श्रृंगार किया जाता है।

श्वेताम्बर भी दो भाग में विभक्त है।

देरावासी – यह तीर्थकरों की प्रतिमाएँ की पूजा करता हैं।

स्थानकवासी – ये मूर्ति पूजा नहीं करते बल्कि साधु संतों को ही पूजते हैं।

स्थानकवासी के भी दो भाग हैं:–

बाईस पंथी

श्वेताम्बर तेरापन्थ

धर्मग्रंथ

दिगम्बर आचार्यों द्वारा समस्त जैन आगम ग्रंथो को चार भागो में बाँटा गया है –

(1) प्रथमानुयोग
(2) करनानुयोग
(3) चरणानुयोग
(4) द्रव्यानुयोग

तत्त्वार्थ सूत्र– सभी जैनों द्वारा स्वीकृत ग्रन्थ

दिगम्बर ग्रन्थ

प्रमुख जैन ग्रन्थ हैं :–

षट्खण्डागम– मूल आगम ग्रन्थ

आचार्य कुंद कुंद द्वारा विरचित ग्रन्थ– समयसार, प्रवचनसार,नियमसार, रयणसार

रत्नकरण्ड श्रावकाचार
पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
आदिपुराण
इष्टोपदेश,
आप्तमीमांसा,
मूलाचार,
द्रव्यसंग्रह
गोम्मटसार,
भगवती आराधना
योगसार
परमात्म प्रकाश
श्रीरविषेणाचार्य कृत पद्मपुराण
श्रेणिक चरित्र
हरिवंश पुराण
तिलोय पण्णत्ती
तत्त्वार्थ सूत्र
जिनसहस्त्र नाम स्त्रोत
अष्टपाहुड

आलाप पद्धति

ज्ञानार्णव

आचार्य तारण स्वामी विरचित–यमालारोहण, पंडित पूजा,कमलबत्तीसी,तारण तरण श्रावकाचार,न्यानसमुच्चय साथ,उपदेशशुद्ध सार,त्रिभंगीसार,चौबीस ठाणा,ममलपाहुड,षातिकाविशेष,सिद्धस्वभाव,सुन्नस्वभाव,छद्मस्थवाणी,नाममाला।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा

समयसार कलश

हरिवंश पुराण

पार्श्व पुराण

उत्तर पुराण

सर्वार्थ सिद्धि

त्रिलोकसार

दर्शनसार

श्वेताम्बर ग्रन्थ

कल्पसूत्र (जैन)

त्यौहार

जैन धर्म की भारत के मानचित्र पर अवस्थितिच्संपजंदंच्संपजंदंगिरनारगिरनारआबू पर्वतआबू

जैन धर्म के प्रमुख तीर्थ

जैन धर्म के प्रमुख त्यौहार इस प्रकार हैं।

पंचकल्याणक

महावीर जयंती

पर्युषण

ऋषिपंचमी

जैन धर्म में दीपावली

ज्ञान पंचमी

दशलक्षण धर्म

5

पाणिनि

पाणिनि (700 ई पू) संस्कृत भाषा के सबसे बड़े वैयाकरण हुए हैं। इनका जन्म तत्कालीन उत्तर पश्चिम भारत के गांधार में हुआ था। इनके व्याकरण का नाम अष्टाध्यायी है, जिसमें आठ अध्याय और लगभग चार सहस्र सूत्र हैं। संस्कृत भाषा को व्याकरण सम्मत रूप देने में पाणिनि का योगदान अतुलनीय माना जाता है। अष्टाध्यायी मात्र व्याकरण ग्रंथ नहीं है। इसमें प्रकारांतर से तत्कालीन भारतीय समाज का पूरा चित्र मिलता है। उस समय के भूगोल, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षा और राजनीतिक जीवन, दार्शनिक चिंतन, खान-पान, रहन-सहन आदि के प्रसंग स्थान-स्थान पर अंकित हैं।

जीवनी एवं कार्य

पाणिनि का जन्म शलातुर नामक ग्राम में हुआ था। जहाँ काबुल नदी सिंधु में मिली है उस संगम से कुछ मील दूर यह गाँव था। उसे अब लहुर कहते हैं। अपने जन्मस्थान के अनुसार पाणिनि शालातुरीय भी कहे गए हैं और अष्टाध्यायी में स्वयं उन्होंने इस नाम का उल्लेख किया है। चीनी यात्री युवान्च्वां (7वीं शती) उत्तर-पश्चिम से आते समय शालातुर गाँव में गए थे। पाणिनि के गुरु का नाम उपवर्ष पिता का नाम पणिन और माता का नाम दाक्षी था। पाणिनि जब बड़े हुए तो उन्होंने व्याकरणशास्त्र का गहरा अध्ययन किया। पाणिनि से पहले शब्द विद्या के अनेक आचार्य हो चुके थे। उनके ग्रंथों को पढ़कर और उनके परस्पर

भेदों को देखकर पाणिनि के मन में वह विचार आया कि उन्हें व्याकरणशास्त्र को व्यवस्थित करना चाहिए। पहले तो पाणिनि से पूर्व वैदिक संहिताओं, शाखाओं, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि का जो विस्तार हो चुका था उस वांग्मय से उन्होंने अपने लिये शब्दसामग्री ली जिसका उन्होंने अष्टाध्यायी में उपयोग किया है। दूसरे निरुक्त और व्याकरण की जो सामग्री पहले से थी उसका उन्होंने संग्रह और सूक्ष्म अध्ययन किया। इसका प्रमाण भी अष्टाध्यायी में है, जैसा शाकटायन, शाकल्य, भारद्वाज, गार्ग्य, सेनक, आपिशलि, गालब और स्फोटायन आदि आचार्यों के मतों के उल्लेख से ज्ञात होता है। शाकटायन निश्चित रूप से पाणिनि से पूर्व के वैयाकरण थे, जैसा निरुक्तकार यास्क ने लिखा है। शाकटायन का मत था कि सब संज्ञा शब्द धातुओं से बनते हैं। पाणिनि ने इस मत को स्वीकार किया, किंतु इस विषय में कोई आग्रह नहीं रखा और यह भी कहा कि बहुत से शब्द ऐसे भी हैं जो लोक की बोलचाल में आ गए हैं और उनसे धातु प्रत्यय की पकड़ नहीं की जा सकती। तीसरी सबसे महत्त्वपूर्ण बात पाणिनि ने यह की कि उन्होंने स्वयं लोक को अपनी आँखों से देखा और घूमकर लोगों के बहुमुखी जीवन का परिचय प्राप्त करके शब्दों को छाना। इस प्रकार से कितने ही सहस्र शब्दों को उन्होंने इकट्ठा किया। शब्दों का संकलन करके उन्होंने उनको वर्गीकृत किया और उनकी कई सूचियाँ बनाई। एक सूची 'धातु पाठ' की थी जिसे पाणिनि ने अष्टाध्यायी से अलग रखा है। उसमें 1943 धातुएँ हैं। धातुपाठ में दो प्रकार की धातुएँ हैं- 1. जो पाणिनि से पहले साहित्य में प्रयुक्त हो चुकी थीं और दूसरी वे जो लोगों की बोलचाल में उन्हें मिली। उनकी दूसरी सूची में वेदों के अनेक आचार्य थे। किस आचार्य के नाम से कौन-सा चरण प्रसिद्ध हुआ और उसमें पढ़ने वाले छात्र किस नाम से प्रसिद्ध थे और उन छन्द या शाखाओं के क्या नाम थे, उन सब की निष्पत्ति भिन्न भिन्न प्रत्यय लगाकर पाणिनि ने दी है, जैसे एक आचार्य तित्तिरि थे। उनका चरण तैत्तरीय कहा जाता था और उस विद्यालय के छात्र एवं वहाँ की शाखा या संहिता भी तैत्तिरीय कहलाती थी। पाणिनि की तीसरी सूची 'गोत्रों' के संबंध में थी। मूल सात गोत्र वैदिक युग से ही चले आते थे। पाणिनि के काल तक आते आते उनका बहुत विस्तार हो गया था। गोत्रों की कई सूचियाँ श्रौत सूत्रों में हैं। जैसे बोधायन श्रौत सूत्र में जिसे महाप्रवर कांड कहते हैं। किंतु पाणिनि ने वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं के परिवार या कुटुंब के नामों की एक बहुत बड़ी सूची बनाई जिसमें आर्ष गोत्र और लौकिक गोत्र दोनों थे। छोटे-मोटे पारिवारिक नाम या अल्लों को

उन्होंने गोत्रावयव कहा हैं। एक गोत्र या परिवार में होने वाला दादा, बूढ़े एवं चाचा (सपिंड स्थविर पिता, पुत्र, पौत्र) आदि व्यक्तियों के नाम कैसे रखे जाते थे, इसका ब्योरेवार उल्लेख पाणिनि ने किया है। बीसियों सूत्रों के साथ लगे हुए गणों में गोत्रों के अनेक नाम पाणिनि के 'गणपाठ' नामक परिशिष्ट ग्रंथ में हैं। पाणिनि की चौथी सूची भौगोलिक थी। पाणिनि का जन्मस्थान उत्तर पश्चिम में था, जिस प्रदेश को हम गांधार कहते हैं। यूनानी भूगोल लेखकों ने लिखा है कि उत्तर पश्चिम अर्थात् गांधार और पंजाब में लगभग 500 ऐसे ग्राम थे, जिनमें से प्रत्येक की जनसंख्या दस सहस्र के लगभग थी। पाणिनि ने उन 500 ग्रामों के वास्तविक नाम भी दे दिए हैं, जिनसे उनके भूगोल संबंधी गणों की सूचियाँ बनी हैं। ग्रामों और नगरों के उन नामों की पहचान टेढ़ा प्रश्न है, किंतु यदि बहुत परिश्रम किया जाय तो यह संभव है जैसे सुनेत और सिरसा पंजाब के दो छोटे गाँव हैं, जिन्हें पाणिनि ने सुनेत्र और शैरीषक कहा है। पंजाब की अनेक जातियों के नाम उन गाँवों के अनुसार थे जहाँ वह जाति निवास करती थी या जहाँ से उसके पूर्वज आए थे। इस प्रकार निवास और अभिजन (पूर्वजों का स्थान) इन दोनों से जो उपनाम बनते थे वे पुरुष नाम में जुड़ जाते थे क्योंकि ऐसे नाम भी भाषा के अंग थे।

पाणिनि ने पंजाब के मध्यभाग में खड़े होकर अपनी दृष्टि पूर्व और पश्चिम की ओर दौड़ाई। उन्हें दो पहाड़ी इलाके दिखाई पड़े। पूर्व की ओर कुल्लू काँगड़ाँ जिसे उस समय त्रिगर्त कहते थे, पश्चिमी ओर का पहाड़ी प्रदेश वह था, जो गांधार की पूर्वी राजधानी तक्षशिला से पश्चिमी राजधानी पुष्कलावती तक फैला था। इसी में वह प्रदेश था जिसे अब कबायली इलाका कहते हैं और जो सिंधु नद के उत्तर से दक्षिण तक व्याप्त था और जिसके उत्तरी छोर पर दरद (वर्तमान गिलगित) और दक्षिणी छोर पर सौबीर (वर्तमान सिंध) था। पाणिनि ने इस प्रदेश में रहनेवाले कबीलों की विस्तृत सूची बनाई और संविधानों का अध्ययन किया। इस प्रदेश को उस समय ग्रामणीय इलाका कहते थे, क्योंकि इन कबीलों में, जैसा आज भी है और उस समय भी था, ग्रामणी शासन की प्रथा थी और ग्रामणी शब्द उनके नेता या शासक की पदवी थी। इन जातियों की शासनसभा को इस समय जिर्गा कहते हैं और पाणिनि के युग में उसे 'ब्रातपूग', 'संघ' या 'गण' कहते थे। वस्तुतः सब कबीलों के शासन का एक प्रकार न था किंतु वे संघ शासन के विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं में थे। पाणिनि ने व्रात और पूग इन संज्ञाओं से बताया है कि इनमें से बहुत से कबीले उत्सेधजीवी या लूटपाट करके जीवन

बिताते थे जो आज भी वहाँ के जीवन की सच्चाई है। उस समय ये सब कबीले या जातियाँ हिंदू थीं और उनके अधिपतियों के नाम संस्कृत भाषा के थे जैसे देवदत्तक, कबीले का पूर्वपुरुष या संस्थापक कोई देवदत्त था। अब नाम बदल गए हैं, किंतु बात वही है जैसे ईसाखेल कबीले का पूर्वज ईसा नामक कोई व्यक्ति था। इन कबीलों के बहुत से नाम पाणिनि के गणपाठ में मिलते हैं, जैसे अफरीदी और मोहमद जिन्हें पाणिनि ने आप्रीत और मधुमंत कहा है। पाणिनि की भौगोलिक सूचियों में एक सूची जनपदों की है। प्राचीन काल में अपना देश जनपद भूमियों में बैठा हुआ था। मध्य एशिया की वंक्षु नदी के उपरिभाग में स्थित कंबोज जनपद, पश्चिम में सौराष्ट्र का कच्छ जनपद, पूरब में असम प्रदेश का सूरमस जनपद (वर्तमान सूरमा घाटी) और दक्षिण में गोदावरी के किनारे अश्मक जनपद (वर्तमान पेठण) इन चार खूँटों के बीच में सारा भूभाग जनपदों में बँटा हुआ था और लोगों के राजनीतिक और सामाजिक जीवन एवं भाषाओं का जनपदीय विकास सहस्रों वर्षों से चला आता था।

पाणिनि ने सहस्रों शब्दों की व्युत्पत्ति बताई जो अष्टाध्यागी के चौथे पाँचवें अध्यायों में है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, सैनिक, व्यापारी किसान, रँगरेज, बढ़ई, रसोइए, मोची, ग्वाले, चरवाहे, गड़रिये, बुनकर, कुम्हार आदि सैकड़ों पेशेवर लोगों से मिलजुलकर पाणिनि ने उनके विशेष पेशे के शब्दों का संग्रह किया।

पाणिनि ने यह बताया कि किस शब्द में कौन-सा प्रत्यय लगता है। वर्णमाला के स्वर और व्यंजन रूप जो अक्षर है उन्हीं से प्रत्यय बनाए गए। जैसे- वर्षा से वार्षिक, यहाँ मूल शब्द वर्षा है उससे इक प्रत्यय जुड़ गया और वार्षिक अर्थात् वर्षा संबंधी यह शब्द बन गया।

अष्टाध्यायी में तद्धितों का प्रकरण रोचक है। कहीं तो पाणिनि की सूक्ष्म छानबीन पर आश्चर्य होता हैं, जैसे व्यास नदी के उत्तरी किनारे की बाँगर भूमि में जो पक्के बारामासी कुएँ बनाए जाते थे, उनके नामों का उच्चारण किसी दूसरे स्वर में किया जाता था और उसी के दक्खिनी किनारे पर खादर भूमि में हर साल जो कच्चे कुएँ खोद लिए जाते थे उनके नामों का स्वर कुछ भिन्न था। यह बात पाणिनि ने 'उदक् च बिपाशा' सूत्र में कही है। गायों और बैलों की तो जीवनकथा ही पाणिनि ने सूत्रों में भर दी है।

आर्थिक जीवन का अध्ययन करते हुए पाणिनि ने उन सिक्कों को भी जाँचा जो बाजारों में चलते थे। जैसे 'शतमान', 'कार्षापण', 'सुवर्ण', 'अंध', 'पाद', 'माशक' 'त्रिंशत्क' (तीस मासे या साठ रत्ती तौल का सिक्का),

'विंशतिक' (बीस मासे की तोल का सिक्का)। कुछ लोग अबला बदली से भी माल बेचते थे। उसे 'निमान' कहा जाता था।

पाणिनि के काल में शिक्षा और वांग्मय का बहुत विस्तार था। संस्कृत भाषा का उन्होंने बहुत ही गहरा अध्ययन किया था। वैदिक और लौकिक दोनों भाषाओं से वे पूर्णतया परिचित थे। उन्हीं की सामग्री से पाणिनि ने अपने व्याकरण की रचना की पर उसमें प्रधानता लौकिक संस्कृत की ही रखी। बोलचाल की लौकिक संस्कृत को उन्होंने भाषा कहा है। उन्होंने न केवल ग्रंथ रचना को किंतु अध्यापन कार्य भी किया। (व्याकरण के उदाहरणों में उनके विषय का नाम कोत्स कहा है)। पाणिनि का शिक्षा विषयक संबंध, संभव है, तक्षशिला के विश्वविद्यालय से रहा हो। कहा जाता है, जब वे अपनी सामग्री का संग्रह कर चुके तो उन्होंने कुछ समय तक एकांतवास किया और अष्टाध्यायी की रचना की।

पाणिनि का समय क्या था, इस विषय में कई मत हैं। कोई उन्हें 7वीं शती ई. पू., कोई 5वीं शती या चौथी शती ई. पू. का कहते हैं। पतंजलि ने लिखा है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी का संबंध किसी एक वेद से नहीं बल्कि सभी वेदों की परिषदों से था (सर्व वेद परिषद)। पाणिनि के ग्रंथों की सर्वसम्मत प्रतिष्ठा का यह भी कारण हुआ।

पाणिनि को किसी मतविशेष में पक्षपात न था। शब्द का अर्थ एक व्यक्ति है या जाति, इस विषय में उन्होंने दोनों पक्षों को माना है। गऊ शब्द एक गाय का भी वाचक है और गऊ जाति का भी। वाजप्यायन और व्याडि नामक दो आचार्यों में भिन्न मतों का आग्रह या, पर पाणिनि ने सरलता से दोनों को स्वीकार कर लिया।

पाणिनि से पूर्व एक प्रसिद्ध व्याकरण इंद्र का था। उसमें शब्दों का प्रातिकंठिक या प्रातिपदिक विचार किया गया था। उसी की परंपरा पाणिनि से पूर्व भारद्वाज आचार्य के व्याकरण में ली गई थी। पाणिनि ने उस पर विचार किया। बहुत सी पारिभाषिक संज्ञाएँ उन्होंने उससे ले लीं, जैसे सर्वनाम, अव्यय आदि और बहुत सी नई बनाई, जैसे टि, घु, भ आदि।

पाणिनि को मांगलिक आचार्य कहा गया है। उनके हृदय की उदार वृत्ति मंगलात्मक कर्म और फल की इच्छुक थी। इसकी साक्षी यह है कि उन्होंने अपने शब्दानुशासन का आरंभ 'वृद्ध' शब्द से किया। कुछ विद्वान् कहते हैं कि पाणिनि के ग्रंथ में न केवल आदिमंगल बल्कि मध्यमंगल और अंतमंगल भी है। उनका

अंतिम सूत्र अ आ है। ह्रस्वकार वर्णसमन्वय का मूल है। पाणिनि को सुहृद्भूत आचार्य अर्थात् सबके मित्र एवं प्रमाणभूत आचार्य भी कहा है।

पंतजलि का कहना है कि पाणिनि ने जो सूत्र एक बार लिखा उसे काटा नहीं। व्याकरण में उनके प्रत्येक अक्षर का प्रमाण माना जाता है। शिष्य, गुरु, लोक और वेद धातुलि शब्द और देशी शब्द जिस ओर आचार्य ने दृष्टि डाली उसे ही रस से सींच दिया। आज भी पाणिनि 'शब्दरूलोके प्रकाशते', अर्थात् उनका नाम सर्वत्र प्रकाशित है। उर

समयकाल

इनका समयकाल अनिश्चित तथा विवादित है। इतना तय है कि छठी सदी ईसा पूर्व के बाद और चौथी सदी ईसापूर्व से पहले की अवधि में इनका अस्तित्त्व रहा होगा। ऐसा माना जाता है कि इनका जन्म पंजाब (पाकिस्तान) के शालातुला में हुआ था जो आधुनिक पेशावर (पाकिस्तान) के करीब है। इनका जीवनकाल 520-460 ईसा पूर्व माना जाता है।

पाणिनि के जीवनकाल को मापने के लिए यवनानी शब्द के उद्धरण का सहारा लिया जाता है। इसका अर्थ यूनान की स्त्री या यूनान की लिपि से लगाया जाता है। गांधार में यवनो (ळतममो) के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी सिकंदर के आक्रमण के पहले नहीं थी। सिकंदर भारत में ईसा पूर्व 330 के आसपास आया था। पर ऐसा हो सकता है कि पाणिनि को फारसी यौन के जरिये यवनों की जानकारी होगी और पाणिनि दारा प्रथम (शासनकाल - 521-485 ईसा पूर्व) के काल में भी हो सकते हैं। प्लूटार्क के अनुसार सिकंदर जब भारत आया था तो यहां पहले से कुछ यूनानी बस्तियाँ थीं।

लेखन

ऐसा माना जाता है कि पाणिनि ने लिखने के लिए किसी न किसी माध्यम का प्रयोग किया होगा क्योंकि उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द अति क्लिष्ट थे तथा बिना लिखे उनका विश्लेषण संभव नहीं लगता है। कई लोग कहते है कि उन्होंने अपने शिष्यों की स्मरण शक्ति का प्रयोग अपनी लेखन पुस्तिका के रूप में किया था। भारत में लिपि का पुनः प्रयोग (सिन्धु घाटी सभ्यता के बाद) 6ठी सदी ईसा पूर्व में हुआ और ब्राह्मी लिपि का प्रथम प्रयोग दक्षिण भारत के तमिलनाडु में हुआ जो उत्तर पश्चिम भारत के गांधार से दूर था। गांधार में 6ठी सदी ईसा पूर्व

में फारसी शासन था और ऐसा संभव है कि उन्होने आर्माइक वर्णों का प्रयोग किया होगा।

कृतियाँ

पाणिनि का संस्कृत व्याकरण चार भागों में है –
माहेश्वर सूत्र – स्वर शास्त्र
अष्टाध्यायी या सूत्रपाठ – शब्द विश्लेषण
धातुपाठ – धातुमूल (क्रिया के मूल रूप)

गणपाठ

पतंजलि ने पाणिनि के अष्टाध्यायी पर अपनी टिप्पणी लिखी जिसे महाभाष्य का नाम दिया (महा़भाष्य (समीक्षा, टिप्पणी, विवेचना, आलोचना))।

पाणिनि का महत्त्व

एक शताब्दी से भी पहले प्रसिद्ध जर्मन भारतविद् मैक्स मूलर (1823–1900) ने अपने साइंस ऑफ थाट में कहा –

'मैं निर्भीकतापूर्वक कह सकता हूँ कि अंग्रेजी या लैटिन या ग्रीक में ऐसी संकल्पनाएँ नगण्य हैं, जिन्हें संस्कृत धातुओं से व्युत्पन्न शब्दों से अभिव्यक्त न किया जा सके। इसके विपरीत मेरा विश्वास है कि 2,50,000 शब्द सम्मिलित माने जाने वाले अंग्रेजी शब्दकोश की सम्पूर्ण सम्पदा के स्पष्टीकरण हेतु वांछित धातुओं की संख्या, उचित सीमाओं में न्यूनीकृत पाणिनीय धातुओं से भी कम है। अंग्रेजी में ऐसा कोई वाक्य नहीं, जिसके प्रत्येक शब्द का 800 धातुओं से एवं प्रत्येक विचार का पाणिनि द्वारा प्रदत्त सामग्री के सावधानीपूर्वक वेश्लेषण के बाद अविशष्ट 121 मौलिक संकल्पनाओं से सम्बन्ध निकाला न जा सके।

पाणिनि की सूत्र शैली

पाणिनि के सूत्रों की शैली अत्यंत संक्षिप्त है। वे सूत्रयुग में ही हुए थे। श्रौत सूत्र, धर्म सूत्र, गृहस्थसूत्र, प्रातिशाख्य सूत्र भी इसी शैली में है, किंतु पाणिनि के सूत्रों में जो निखार है वह अन्यत्र नहीं है। इसीलिए पाणिनि के सूत्रों को प्रतिष्णात सूत्र कहा गया है। पाणिनि ने वर्ण या वर्णमाला को 14 प्रत्याहार सूत्रों में बाँटा और उन्हें विशेष क्रम देकर 42 प्रत्याहार सूत्र बनाए।

पाणिनि की सबसे बड़ी विशेषता यही है, जिससे वे थोड़े स्थान में अधिक सामग्री भर सके। यदि अष्टाध्यायी के अक्षरों को गिना जाय तो उसके 3995 सूत्र एक सहस्र श्लोक के बराबर होते हैं। पाणिनि ने संक्षिप्त ग्रंथ रचना की और भी कई युक्तियाँ निकालीं जैसे अधिकार और अनुवृत्ति अर्थात् सूत्र के एक या कई शब्दों को आगे के सूत्रों में ले जाना जिससे उन्हें दोहराना न पड़े। अर्थ करने की कुछ परिभाषाएँ भी उन्होंने बनाई। एक बड़ी विचित्र युक्ति उन्होंने असिद्ध सूत्रों की निकाली। अर्थात् बाद का सूत्र अपने से पहले के सूत्र के कार्य को ओझल कर दे।

पाणिनि और आधुनिक भाषाशास्त्र

पाणिनि का कार्य 19वीं सदी में यूरोप में जाना जाने लगा, जिससे इसका आधुनिक भाषाशास्त्र पर खूब प्रभाव पड़ा। आरंभ में फरेन्ज बोप् ने पाणिनि का अध्ययन किया। बाद में बहुत सी रचनाओं से योरपीय संस्कृत के विद्वान् जैसे फर्नांडीस डी सॉसर, लियोनार्ड ब्लूमफील्ड और रोमन जैकब्सन् आदि प्रभावित हुए। फ्रिट्स् स्टाल ने योरप में भाषा पर भारतीय विचारों के प्रभाव की विवेचना की।

डी सॉस

'पाणिनि और बाद के भारतीय भाषाशास्त्री भर्तृहरि का फर्डीनांड डि सॉसर के कई बुनियादी विचारों पर काफी प्रभाव पड़ा। फर्डीनांड डि सॉसर संस्कृत के प्राध्यापक थे, जो कि आधुनिक संरचनात्मक भाषाशास्त्र के जनक कहे जाते हैं। सॉसर ने स्वयं अपने कुछ विचारों पर भारतीय व्याकरण के प्रभाव का जिक्र किया है। अपने 1881 में प्रकाशित 'डी लेम्पलोइ डु जेनिटिफ् 'ब्सॉल्यू एन् सैन्स्क्रिट्' (संस्कृत में जेनेटिव् निरपेक्ष का प्रयोग) में, उन्होंने पाणिनि को विशेषरूप से जिक्र करके अपनी रचना को प्रभावित करने वाला बताया है।

लियोनार्ड् ब्लूम्फील्ड्

अमेरिकी संरचनावाद के संस्थापक लियोनॉर्ड् ब्लूम्फील्ड ने 1927 में एक शोधपत्र लिखा जिसका शीर्षक था 'ऑन् सम् रूल्स् ऑफ् पाणिनि' (यानी, पाणिनि के कुछ नियमों पर)।

आज के औपचारिक तन्त्रों के साथ तुलना

पाणिनि का व्याकरण संसार का पहला औपचारिक तन्त्र (फॉर्मल् सिस्टम्) है। इसका विकास 19वीं सदी के गोट्लॉब फ्रेज के अन्वेषणों और उसके बाद के गणित के विकासों से बहुत पहले ही हो गया था। अपने व्याकरण का स्वरूप बनाने में पाणिनि ने 'सहायक प्रतीकों' का प्रयोग किया, जिसमें नये शब्दांशों को सिन्टैक्टिक श्रेणियों का विभाजन रखने के लिए प्रयोग किया, ताकि व्याकरण की व्युत्पत्तियों को यथेष्ट नियन्त्रित किया जा सके। ठीक यही तकनीक जब एमिल पोस्ट् ने दोबारा 'खोजी', तो यह कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग भाषाओं की अभिकल्पना के लिए मानदण्ड बना। आज संस्कृतविद् स्वीकार करते हैं कि पाणिनि का भाषीय औजार अनुप्रयुक्त पोस्ट-सिस्टम् के रूप में भली-भाँति वर्णित है। पर्याप्तमात्रा में प्रमाण मौजूद हैं कि इन प्राचीन लोगों को सहपाठ-संवेदी-व्याकरण (कन्टेक्स्ट-सेन्सिटिव ग्रामर) में महारत थी और कई जटिल समस्याओं को सुलझाने में व्यापक क्षमता थी।

अन्य रचनाएँ

पाणिनि को दो साहित्यिक रचनाओं के लिए भी जाना जाता है, यद्यपि वे अब प्राप्य नहीं हैं।

जाम्बवती विजय आज एक अप्राप्य रचना है, जिसका उल्लेख राजशेखर नामक व्यक्ति ने जह्नलण की सूक्ति मुक्तावली में किया है। इसका एक भाग रामयुक्त की नामलिंगानुशासन की टीका में भी मिलता है।

राजशेखर ने जह्नलण की सूक्तिमुक्तावली में लिखा है।

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविर भूदिह।

आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम् ।।

पातालविजय, जो आज अप्राप्य रचना है, जिसका उल्लेख नामिसाधु ने रुद्रटकृत काव्यालंकार की टीका में किया है।

6

संस्कृत व्याकरण

नंद मौर्य राजवंश संस्कृत में व्याकरण की परम्परा बहुत प्राचीन है। संस्कृत भाषा को शुद्ध रूप में जानने के लिए व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया जाता है। अपनी इस विशेषता के कारण ही यह वेद का सर्वप्रमुख अंग माना जाता है ('वेदांग')

यस्य षष्ठी चतुर्थी च विहस्य च विहाय च।

यस्याहं च द्वितीया स्याद् द्वितीया स्यामहं कथम्।।

– जिसके लिए 'विहस्य' छठी विभक्ति का है और 'विहाय' चौथी विभक्ति का है, 'अहम् और कथम्' (शब्द) द्वितीया विभक्ति हो सकता है। मैं ऐसे व्यक्ति की पत्नी (द्वितीया) कैसे हो सकती हूँ?

(ध्यान दें कि किसी पद के अन्त में 'स्य' लगने मात्र से वह षष्टी विभक्ति का नहीं हो जाता, और न ही 'आय' लगने से चतुर्थी विभक्ति का । विहस्य और विहाय ये दोनों अव्यय हैं, इनके रूप नहीं चलते। इसी तरह 'अहम्' और 'कथम्' में अन्त में 'म्' होने से वे द्वितीया विभक्ति के नहीं हो गये। अहम् यद्यपि म्-में अन्त होता है फिर भी वह प्रथमपुरुष-एकवचन का रूप है। इस सामान्य बात को भी जो नहीं समझता है, उसकी पत्नी कैसे बन सकती हूँ? अल्प ज्ञानी लोग ऐसी गलती प्रायः कर देते हैं। यह भी ध्यान दें कि उन दिनों में लड़कियां इतनी पढी-लिखी थी वे मूर्ख से विवाह करना नहीं चाहती थीं और वे अपने विचार रखने के लिए स्वतन्त्र थीं।)

वचन

संस्कृत में तीन वचन होते हैं- एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन।

संख्या में एक होने पर एकवचन का, दो होने पर द्विवचन का तथा दो से अधिक होने पर बहुवचन का प्रयोग किया जाता है।

जैसे-

एक वचन

एक:बालक:क्रीडति

द्विवचन

द्वौ बालकौ क्रीडत:।

बहुवचन

त्रय:बालका: क्रीडन्ति।

लिंग

पुल्लिंग- जिस शब्द में पुरुष जाति का बोध होता है, उसे पुल्लिंग कहते हैं।(जैसे राम:, बालक:, स: आदि)

स: बालक: अस्ति।

तौ बालकौ स्त:

ते बालका: सन्ति।

स्त्रीलिंग- जिस शब्द से स्त्री जाति का बोध होता है, उसे स्त्रीलिंग कहते हैं। (जैसे रमा, बालिका, सा आदि)

सा बालिका अस्ति।

ते बालिके स्त:।

ता: बालिका:सन्ति।

नपुंसकलिंग (जैसे: फलम् , गृहम, पुस्तकम् , तत् आदि)

पुरुष

प्रथम पुरुष (First person) - सरू, तौ, ते

मध्यम पुरुष (Second person) - त्वम्, युवाम्, यूयम्

उत्तम पुरुष (जीपतक चमतेवद) - अहं, आवाम्, वयम्

कारक

कारक नाम – वाक्य के अन्दर उपस्थित पहचान-चिह्न

कर्त्ता – ने (रामः गच्छति।)

कर्म – को (जव) (बालकः विद्यालयं गच्छति।)

करण – से (इल), द्वारा (सः हस्तेन खादति।)

सम्प्रदान –को के लिये (वित) (निर्धनाय धनं देयं।)

अपादान – से (तिवउ) अलगाव (वृक्षात् पत्राणि पतन्ति।)

सम्बन्ध – का, की, के (वि), रा, री, रे, ना, नी, ने, (रामः दशरथस्य पुत्रः आसीत्।)

अधिकरण – में, पे, पर (पदध्वद) (यस्य गृहे माता नास्ति,)

सम्बोधन – हे,भो,अरे, (हे राजन् ! अहं निर्दोषः।)

वाच्य

संस्कृत में तीन वाच्य होते हैं– कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य।

कर्तृवाच्य में कर्त्तापद प्रथमा विभक्ति का होता है। छात्रः श्लोकं पठति– यहाँ छात्रः कर्त्ता है और प्रथमा विभक्ति में है।

कर्मवाच्य में कर्त्तापद तृतीया विभक्ति का होता है। जैसे, छात्रेण श्लोकः पठ्यते। यहाँ छात्रेण तृतीया विभक्ति में है।

अकर्मक धातु में कर्म नहीं होने के कारण क्रिया की प्रधानता होने से भाववाच्य के प्रयोग सिद्ध होते हैं। कर्त्ता की प्रधानता होने से कर्तृवाच्य प्रयोग सिद्ध होते हैं। भाववाच्य एवं कर्मवाच्य में क्रियारूप एक जैसे ही रहते हैं।

क्र.	कर्तृवाच्य	भाववाच्य
1.	भवान् तिष्ठतु	भवता स्थीयताम्
2.	भवती नृत्यतु	भवत्या नृत्यताम्
3.	त्वं वर्धस्व	त्वया वर्ध्यताम्
4.	भवन्तः न सिद्यन्ताम्	भवद्भिः न खिद्यताम्
5.	भवत्यः उत्तिष्ठन्तु	भवतीभिः उत्थीयताम्
6.	यूयं संचरत	युष्माभिः संचर्यताम्
7.	भवन्तौ रुदिताम्	भवद्भयां रुद्यताम्
8.	भवत्यौ हसताम्	भवतीभ्यां हस्यताम्
9.	विमानम् उड्डयताम्	विमानेन उड्डीयताम्
10	सर्वे उपविशन्तु	सर्वैः उपविश्यताम्

लकार

संस्कृत में लट् , लिट् , लुट् , लृट् , लेट् , लोट् , ल , लि, , लु , लृ – ये दस लकार होते हैं। वास्तव में ये दस प्रत्यय हैं जो धातुओं में जोड़े जाते हैं। इन दसों प्रत्ययों के प्रारम्भ में 'ल' है इसलिए इन्हें 'लकार' कहते हैं (ठीक वैसे ही जैसे घ्कार, अकार, इकार, उकार इत्यादि)। इन दस लकारों में से आरम्भ के छः लकारों के अन्त में 'ट्' है– लट् लिट् लुट् आदि इसलिए ये टित् लकार कहे जाते हैं और अन्त के चार लकार ति् कहे जाते हैं क्योंकि उनके अन्त में 'ति' है। व्याकरणशास्त्र में जब धातुओं से पिबति, खादति आदि रूप सिद्ध किये जाते हैं तब इन टित् और ति् शब्दों का बहुत बार प्रयोग किया जाता है।

इन लकारों का प्रयोग विभिन्न कालों की क्रिया बताने के लिए किया जाता है। जैसे – जब वर्तमान काल की क्रिया बतानी हो तो धातु से लट् लकार जोड़ देंगे, परोक्ष भूतकाल की क्रिया बतानी हो तो लिट् लकार जोड़ेंगे।

(1) लट् लकार (= वर्तमान काल) जैसे :– श्यामः खेलति । (श्याम खेलता है।)

(2) लिट् लकार (= अनद्यतन परोक्ष भूतकाल) जो अपने साथ न घटित होकर किसी इतिहास का विषय हो । जैसे :– रामः रावणं ममार । (राम ने रावण को मारा ।)

(3) लुट् लकार (= अनद्यतन भविष्यत् काल) जो आज का दिन छोड़ कर आगे होने वाला हो । जैसे :– सः परश्वः विद्यालयं गन्ता । (वह परसों विद्यालय जायेगा ।)

(4) लृट् लकार (= सामान्य भविष्य काल) जो आने वाले किसी भी समय में होने वाला हो । जैसे :– रामः इदं कार्यं करिष्यति । (राम यह कार्य करेगा।)

(5) लेट् लकार (= यह लकार केवल वेद में प्रयोग होता है, ईश्वर के लिए, क्योंकि वह किसी काल में बंधा नहीं है।)

(6) लोट् लकार (= ये लकार आज्ञा, अनुमति लेना, प्रशंसा करना, प्रार्थना आदि में प्रयोग होता है ।) जैसे :– भवान् गच्छतु । (आप जाइए) य सः क्रीडतु । (वह खेले) य त्वं खाद । (तुम खाओ) य किमहं वदानि । (क्या मैं बोलूँ ?)

(7) लंकार (= अनद्यतन भूत काल) आज का दिन छोड़ कर किसी अन्य दिन जो हुआ हो । जैसे :– भवान् तस्मिन् दिने भोजनमपचत् । (आपने उस दिन भोजन पकाया था।)

(8) लिं लकार = इसमें दो प्रकार के लकार होते हैं :--

(क) आशीर्लि (= किसी को आशीर्वाद देना हो) जैसे :- भवान् जीव्यात् (आप जीओ) य त्वं सुखी भूयात् । (तुम सुखी रहो।)

(ख) विधिलिं (= किसी को विधि बतानी हो ।) जैसे :- भवान् पठेत् । (आपको पढ़ना चाहिए।) य अहं गच्छेयम् । (मुझे जाना चाहिए।)

(9) लुं लकार (= सामान्य भूत काल) जो कभी भी बीत चुका हो । जैसे :- अहं भोजनम् अभक्षत् । (मैंने खाना खाया।)

(10) लूं लकार (= ऐसा भूत काल जिसका प्रभाव वर्तमान तक हो) जब किसी क्रिया की असिद्धि हो गई हो । जैसे :- यदि त्वम् अपठिष्यत् तर्हि विद्वान् भवितुम् अर्हिष्यत् । (यदि तू पढ़ता तो विद्वान् बनता।)

इस बात को स्मरण रखने के लिए कि धातु से कब किस लकार को जोड़ेंगे, निम्नलिखित श्लोक स्मरण कर लीजिए-

लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुं लं लिटस्तथा।
विध्याशिषोर्लि लोटौ च लुट् लृट् लूंच भविष्यति ।

(अर्थात् लट् लकार वर्तमान काल में, लेट् लकार केवल वेद में, भूतकाल में लुं लं और लिट्, विधि और आशीर्वाद में लिं और लोट् लकार तथा भविष्यत् काल में लुट् लृट् और लूं लकारों का प्रयोग किया जाता है।)

लकारों के नाम याद रखने की विधि-

ल् में प्रत्याहार के क्रम से (अ इ उ ऋ ए ओ) जोड़ दें और क्रमानुसार (ट्) जोड़ते जाएं । फिर बाद में जोड़ते जाऐं जब तक कि दश लकार पूरे न हो जाएँ । जैसे लट् लिट् लुट् लृट् लेट् लोट् लँ लं् लुं लृं ध् इनमें लेट् लकार केवल वेद में प्रयुक्त होता है । लोक के लिए नौ लकार शेष रहे।

(3) कर्मधारय

(4) बहुव्रीहि

(5) अव्ययीभाव

(6) द्विगु

समास क्रिया पदों में नहीं होता। समास के पहले पद को 'पूर्व पद' कहते हैं, बाकी सभी को 'उत्तर पद' कहते हैं।

समास के तोड़ने को विग्रह कहते हैं, जैसे -- 'रामश्यामौ' यह समास है और रामः च श्यामः च (राम और श्याम) इसका विग्रह है।

पाठको को याद करने के लिये समास की ट्रिक – 'अब तक दादा' अ= अव्ययीभाव, ब= बहुव्रीहि, त= तत्पुरुष क= कर्मधारयः, द= द्वंद्व, और द= द्विगु।

संस्कृत व्याकरण शब्दावली

संस्कृत शब्द	तुल्य अंग्रेजी	पाणिनि द्वारा प्रयुक्त शब्द
विशेषण	**adjective**	–
adverb		
agreement		
महाप्राण	**aspirated**	–
आत्मनेपद	**atmanepada**	–
विभक्ति	case	–
प्रथमा	case 1 (subject)	–
द्वितीया	case2 (object)	–
तृतीया	case 3 ('with')	–
चतुर्थी	case 4 ('for')	–
पञ्चमी	case 5 ('from')	–
षष्ठी	case 6 ('of')	–
सप्तमी	case 7 ('in')–	
संबोधन	case 8 (address)–	
causal verb	णिजन्त	
आज्ञा	command mood	लोट्
समास	compound (word)	–
संध्यक्षर	compound vowel	एच
संकेत	conditional mood	लृं
व्यंजन	consonant	हल
desiderative	सन्नन्त	
अनद्यतन	distant future tense	लुट्
परोक्षभूत	distant past tense	लिट्
अभ्यास	doubling	–
द्विवचन	dual (number)–	
द्वन्द्व	dvandva	–

स्त्रीलिंग	feminine gender	–
उत्तम	first person	–
लिंग	gender	–
gerund	क्तवान्त	
grammatical case		
व्याकरण	grammar	
तालु	hard palate	–
गुरु	heavy (syllable)	–
intensive	यणन्त	
नु	सपहीज (syllable)	–
ओष्ठ	lip	–
दीर्घ	long vowel	अ
पुंल्लिग	masculine gender	अ
गुण	medium vowel	-
अनुनासिक	nasal-	
नपुंसकलिंग	neuter gender	
noun ending	सुप	
नामधातु	noun from verb	
दवनद	सुबन्त	
वचन	number	
कर्मन्	object	-
विधि	option mood	ya
भविष्यन्	ordinary future tense	
अनद्यतनभूत	ordinary past tense	लं
परस्मैपद	parasmaipada	.
participle		
पुरुष	person	पुरुष
बहुवचन	plural (number)	
स्थान	point of pronunciation	
prefi		
वर्तमान	present tense	लट्
-R	primary (suffix)	

सर्वनामन्	pronoun	–
भूत	recent past tense	लुं
ऊष्मन्	"s"&sound	–
-	sandhi	–
मध्यम	second persoद	मध्यम
तद्धित	secondary (suffix)	–
अन्त:स्थ	semivowel	
ह्रस्व	short vowel	–
समानाक्षर	simple vowel	–
एकवचन	singular (number)	–
कण्ठ	soft palate	
प्रातिपदिक	stem (of a noun)	–
अंग	stem (of any word)	–
स्पर्श	stop	
वृद्धि	strong vowel	
कर्तृ	subject	
प्रत्यय	suffix	–
अक्षर	syllable	
प्रथम	third person	–
दन्त	tooth	
उभयपद	ubhayapada	
अल्पप्राण	unaspirated	
अव्यय	uninflected word	अव्यय
अघोष	unvoiced	
गण	verb class	–
verb ending	ति्	
उपसर्ग	अमतइ चतमपि	उपसर्ग
धातु	verb root	–
verb	तिंन्त	
verbless sentence		
घोषवत	अवपबमक –	
स्वर	vowel	vP

संस्कृत व्याकरण का इतिहास

संस्कृत का व्याकरण वैदिक काल में ही स्वतंत्र विषय बन चुका था। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात – ये चार आधारभूत तथ्य यास्क (ई. पू. लगभग 700) के पूर्व ही व्याकरण में स्थान पा चुके थे। पाणिनि (ई. पू. लगभग 550) के पहले कई व्याकरण लिखे जा चुके थे जिनमें केवल आपिशलि और काशकृत्स्न के कुछ सूत्र आज उपलब्ध हैं। किंतु संस्कृत व्याकरण का क्रमबद्ध इतिहास पाणिनि से आरंभ होता है।

व्याकरण शास्त्र का वृहद् इतिहास है, किन्तु महामुनि पाणिनि और उनके द्वारा प्रणीत अष्टाधयायी ही इसका केन्द्र बिन्दु हैं। पाणिनि ने अष्टाधयायी में 3995 सूत्रें की रचनाकर भाषा के नियमों को व्यवस्थित किया जिसमें वाक्यों में पदों का संकलन, पदों का प्रकृति, प्रत्यय विभाग एवं पदों की रचना आदि प्रमुख तत्त्व हैं। इन नियमों की पूर्ति के लिये धातु पाठ, गण पाठ तथा उणादि सूत्र भी पाणिनि ने बनाये। सूत्रों में उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त विषयों का विचार कर कात्यायन ने वार्त्तिक की रचना की। बाद में महामुनि पतंजलि ने महाभाष्य की रचना कर संस्कृत व्याकरण को पूर्णता प्रदान की। इन्हीं तीनों आचार्यों को 'त्रिमुनि' के नाम से जाना जाता है। प्राचीन व्याकरण में इनका अनिवार्यतः अधययन किया जाता है।

नव्य व्याकरण के अन्तर्गत प्रक्रिया क्रम के अनुसार शास्त्रों का अधययन किया जाता है, जिसमें भट्टोजीदीक्षित, नागेश भट्ट आदि आचार्यों के ग्रन्थों का अधययन मुख्य है। प्राचीन व्याकरण एवं नव्य व्याकरण दो स्वतंत्र विषय हैं।

गणपाठ एवं धातुपाठ

प्रमुख संस्कृत व्याकरणों के अपने अपने गणपाठ और धातुपाठ हैं। गणपाठ संबंधी स्वतंत्र ग्रंथों में वर्धमान (12वीं शताब्दी) का गणरत्नमहोदधि और भट्ट यज्ञेश्वर रचित गणरत्नावली (ई. 1874) प्रसिद्ध हैं। उणादि के विवरणकारों में उज्जवलदत्त प्रमुख हैं। काशकृत्स्न का धातुपाठ कन्नड भाषा में प्रकाशित है। भीमसेन का धातुपाठ तिब्बती (भोट) में प्रकाशित है। पूर्णचंद्र का धातुपारायण, मैत्रेयरक्षित (दसवीं शताब्दी) का धातुप्रदीप, क्षीरस्वामी (दसवीं शताब्दी) की क्षीरतरंगिणी, सायण की माधवीय धातुवृत्ति, श्रीहर्षकीर्ति की धातुतरंगिणी, बोपदेव का कविकल्पद्रुम, भट्टमल्ल की आख्यातचंद्रिका विशेष उल्लेखनीय हैं। लिंगबोधक ग्रंथों में पाणिनि, वररुचि, वामन, हेमचंद्र, शाकटायन, शांतनवाचार्य,

हर्षवर्धन आदि के लिंगानुशासन प्रचलित हैं। इस विषय की प्राचीन पुस्तक 'लिंगकारिका' अनुपलब्ध है।

संस्कृत व्याकरण का दार्शनिक विवेचन

संस्कृत व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का विवेचन व्याडि (लगभग ई. पू. 400) के 'संग्रह' से आरंभ होता है, जिसके कुछ वाक्य ही आज अवशेष हैं। भर्तृहरि (लगभग ई. 500) का वाक्यपदीय व्याकरणदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त इस पर वृषभदेव (छठी शताब्दी), पुण्यराज (नवीं शताब्दी) और हेलाराज (दसवीं शताब्दी) की टीकाएँ विश्रुत हैं। कौंडभट्ट (ई. 1600) का वैयाकरणभूषण और नागेश की वैयाकरण सिद्धांतमंजूषा उल्लेखनीय हैं। नागेश का स्फोटवाद, कृष्णभट्टमौनि की स्फोटचंद्रिका और भरतमिश्र की स्फोटसिद्धि भी इस विषय के लघुकाय ग्रंथ हैं। सीरदेव की परिभाषावृत्ति, पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति, विष्णुशेष का परिभाषाप्रकाश और नागेश का परिभाषेंदुशेखर पठनीय हैं। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में परिभाषेंदुशेखर पर लगभग 25 टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें गदा, भैरवी, भावार्थदीपिका के अतिरिक्त तात्या शास्त्री पटवर्धन, गणपति शास्त्री मोकाटे, भास्कर शास्त्री, वासुदेव अभ्यंकर, मन्युदेव, चिद्रूपाश्रय आदि की टीकाएँ हैं।

संस्कृत व्याकरण का इतिहास पिछले ढाई हजार वर्ष से टीका टिप्पणी के माध्यम से अविच्छिन्न रूप में अग्रसर होता रहा है। इसे सजीव रखने में उन ज्ञात अज्ञात सहस्रों विद्वानों का सहयोग रहा है, जिन्होंने कोई ग्रंथ तो नहीं लिखा, किंतु अपना जीवन व्याकरण के अध्यापन में बिताया।

संस्कृत के व्याकरण ग्रन्थ और उनके रचयिता

संग्रह – व्याडि (लगभग ई. पू. 400 य व्याकरण के दार्शनिक विवेचन का आदि ग्रन्थ)

अष्टाध्यायी --पाणिनि

महाभाष्य – पतंजलि

वाक्यपदीय – भर्तृहरि (लगभग ई. 500, व्याकरणदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ)

त्रिपादी (या, महाभाष्यदीपिका) – भर्तृहरि (महाभाष्य की टीका)

काशिकावृत्ति – जयादित्य तथा वामन (छठी शती)

वार्तिक –कात्यायन

प्रदीप – कैयट

सूक्तिरत्नाकर –शेषनारायण

भट्टिकाव्य (या, रावणवध) –भट्टि (सातवीं शती)

चान्द्रव्याकरण – चन्द्रगोमिन्

कच्चान व्याकरण –कच्चान (पालि का प्राचीनतम उपलब्ध व्याकरण)

मुखमत्तदीपनी – विमलबुद्धि (कच्चान व्याकरण की टीका तथा न्यास, 11वीं सदी)

काशिकाविवरणपंजिका (या, न्यास) –जिनेन्द्रबुद्धि (लगभग 650 ई., काशिकावृत्ति की टीका)

शब्दानुशासन – हेमचन्द्राचार्य

पदमंजरी –हरदत्त (ई. 1200, काशिकावृत्ति की टीका)

सारस्वतप्रक्रिया –स्वरूपाचार्य अनुभूति

भागवृत्ति (अनुपलब्ध, काशिका की पद्धति पर लिखित)

भाषावृत्ति –– पुरुषोत्तमदेव (ग्यारहवीं शताब्दी)

सिद्धान्तकौमुदी –– भट्टोजि दीक्षित (प्रक्रियाकौमुदी पर आधारित)

प्रौढमनोरमा –– भट्टोजि दीक्षित (स्वरचित सिद्धान्तकौमुदी की टीका)

वैयाकरणभूषणकारिका –भट्टोजि दीक्षित

शब्दकौस्तुभ –भट्टोजि दीक्षित (ई. 1600, पाणिनीय सूत्रों की अष्टाध्यायी क्रम से एक अपूर्ण व्याख्या)

बालमनोरोरमा – वासुदेव दीक्षित (सिद्धान्तकौमुदी की टीका)

रूपावतार –धर्मकीर्ति (ग्यारहवीं शताब्दी)

मुग्धबोध –वोपदेव

प्रक्रियाकौमुदी –रामचन्द्र (ई. 1400)

मध्यसिद्धान्तकौमुदी –वरदराज

लघुसिद्धान्तकौमुदी –वरदराज

सारसिद्धान्तकौमुदी –वरदराज

प्रक्रियासर्वस्व –नारायण भट्ट (सोलहवीं शताब्दी)

प्रसाद –विट्ठल

प्रक्रियाप्रकाश –शेषकृष्ण

तत्त्वबोधिनी –ज्ञानेन्द्र सरस्वती (सिद्धान्तकौमुदी की टीका)

शब्दरत्न – हरि दीक्षित (प्रौढमनोरमा की टीका)

मनोरमाकुचमर्दन – जगन्नाथ पण्डितराज (भट्टोजि दीक्षित के 'प्रौढ़मनोरमा' नामक व्याकरण के टीकाग्रंथ का खंडन)

स्वोपज्ञवृत्ति –(वाक्यपदीय की टीका)

वैयाकरणभूषणसार –कौण्डभट्ट (ई. 1600)

वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा –नागेश भट्ट (व्याकरणदर्शनग्रंथ)

परिभाषेन्दुशेखर –नागेश भट्ट (इस यशस्वी ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं।)

लघुशब्देन्दुशेखर –नागेश भट्ट (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)

बृहच्छब्देन्दुशेखर –नागेश भट्ट (सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या)

शब्देन्दुशेखर – नागेश भट्ट

वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा –नागेश भट्ट

वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमंजूषा –नागेश भट्ट

महाभाष्य-प्रत्याख्यान-संग्रह – नागेश भट्ट

उद्योत –नागेश भट्ट (पतंजलिकृत महाभाष्य पर टीकाग्रन्थ)

स्फोटवाद –नागेश भट्ट

स्फोटचन्द्रिका – कृष्णभट्टमौनि

स्फोटसिद्धि –भरतमिश्र

परिभाषावृत्ति –सीरदेव

परिभाषावृत्ति –पुरुषोत्तमदेव

परिभाषाप्रकाश –विष्णुशेष

गदा –परिभाषेन्दुशेखर की टीका

भैरवी –परिभाषेन्दुशेखर की टीका

भावार्थदीपिका-परिभाषेन्दुशेखर की टीका

हरिनामामृतव्याकरण –जीव गोस्वामी

परिमल –अमरचन्द

व्याकरण (वेदांग)

वेदांग (वेद के अंग) छः हैं, जिसमें से व्याकरण एक है। संस्कृत भाषा को शुद्ध रूप में जानने के लिए व्याकरण शास्त्र का अधययन किया जाता है। अपनी इस विशेषता के कारण ही यह वेद का सर्वप्रमुख अंग माना जाता है। इसके मूलतः पाँच प्रयोजन हैं – रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असंदेह।

व्याकरण की जड़ें वैदिकयुगीन भारत तक जाती हैं। व्याकरण की परिपाटी अत्यन्त समृद्ध है, जिसमें पाणिनि का अष्टाध्यायी नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ भी शामिल है। 'व्याकरण' से मात्र 'ग्रामर' का अभिप्राय नहीं होता बल्कि यह भाषाविज्ञान के अधिक निकट है। साथ ही इसका दार्शनिक पक्ष भी है।

संस्कृत व्याकरण वैदिक काल में ही स्वतंत्र विषय बन चुका था। नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात – ये चार आधारभूत तथ्य यास्क (ई. पू. लगभग 700) के पूर्व ही व्याकरण में स्थान पा चुके थे। पाणिनि (ई. पू. लगभग 550) के पहले कई व्याकरण लिखे जा चुके थे जिनमें केवल आपिशलि और काशकृत्स्न के कुछ सूत्र आज उपलब्ध हैं। किंतु संस्कृत व्याकरण का क्रमबद्ध इतिहास पाणिनि से आरंभ होता है।

संस्कृत व्याकरण का इतिहास पिछले ढाई हजार वर्ष से टीका-टिप्पणी के माध्यम से अविच्छिन्न रूप में अग्रसर होता रहा है। इसे सजीव रखने में उन ज्ञात अज्ञात सहस्रों विद्वानों का सहयोग रहा है, जिन्होंने कोई ग्रंथ तो नहीं लिखा, किंतु अपना जीवन व्याकरण के अध्यापन में बिताया।

पाणिनीय व्याकरण

पाणिनि ने वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत दोनों के लिए 'अष्टाध्यायी' की रचना की। अपने लगभग चार हजार सूत्रों में उन्होंने सदा के लिए संस्कृत भाषा को परिनिष्ठित कर दिया। उनके प्रत्याहार, अनुबन्ध आदि गणित के नियमों की तरह सूक्ष्म और वैज्ञानिक हैं। उनके सूत्रों में व्याकरण और भाषाशास्त्र सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का समावेश है।

कात्यायन (ई. पू. लगभग 300) ने पाणिनि के सूत्रों पर लगभग 4295 वार्तिक लिखे। पाणिनि की तरह उनका भी ज्ञान व्यापक था। उन्होंने लोकजीवन के अनेक शब्दों का संस्कृत में समावेश किया और न्यायों तथा परिभाषाओं द्वारा व्याकरण का विचारक्षेत्र विस्तृत किया। कात्यायन के वार्तिकों पर पतंजलि (ई. पू. 150) ने महाभाष्य की रचना की। महाभाष्य आकर-ग्रंथ है। इसमें प्रायः सभी दार्शनिक वादों के बीज हैं। इसकी शैली अनुपम है। इस पर अनेक टीकाएँ मिलती हैं, जिनमें भर्तृहरि की 'त्रिपादी', कैयट का 'प्रदीप' और शेषनारायण का 'सूक्तिरत्नाकर' प्रसिद्ध हैं। सूत्रों के अर्थ, उदाहरण आदि समझाने के लिए कई वृत्तिग्रंथ लिखे गए थे जिनमें काशिकावृत्ति (छठी शताब्दी) महत्त्वपूर्ण है। जयादित्य और वामन नाम के आचार्यों की यह रमणीय कृति है। इस पर

जिनेन्द्रबुद्धि (लगभग 650 ई.) की काशिकाविवरणपंजिका (न्यास) और हरदत्त (ई. 1200) की पदमंजरी उत्तम टीकाएँ हैं। काशिका की पद्धति पर लिखे गए ग्रंथों में भागवृत्ति (अनुपलब्ध), पुरुषोत्तमदेव (ग्यारहवीं शताब्दी) की भाषावृत्ति और भट्टोजि दीक्षित (ई. 1600) का शब्दकौस्तुभ मुख्य हैं।

प्रक्रिया ग्रंथ

पाणिनि के सूत्रों के क्रम बदलकर कुछ प्रक्रियाग्रंथ भी लिखे गए जिनमें धर्मकीर्ति (ग्यारहवीं शताब्दी) का रूपावतार, रामचन्द्र (ई.1400) की प्रक्रियाकौमुदी, भट्टोजि दीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी और नारायण भट्ट (सोलहवीं शताब्दी) का प्रक्रियासर्वस्व उल्लेखनीय हैं। प्रक्रियाकौमुदी पर विट्ठलकृत 'प्रसाद' और शेषकृष्णरचित 'प्रक्रिया प्रकाश' पठनीय हैं। सिद्धान्तकौमुदी की टीकाओं में प्रौढमनोरमा, तत्त्वबोधिनी और शब्देन्दुशेखर उल्लेखनीय हैं। प्रौढमनोरमा पर हरि दीक्षित का शब्दरत्न भी प्रसिद्ध है। नागेश भट्ट (ई. 1700) के बाद व्याकरण का इतिहास धूमिल हो जाता है। टीकाग्रंथों पर टीकाएँ मिलती हैं। किसी-किसी में न्यायशैली देख पड़ती है। पाणिनिसम्प्रदाय के पिछले दो सौ वर्ष के प्रसिद्ध टीकाकारों में वैद्यनाथ पायुगुंड, विश्वेश्वर, ओरमभट्ट, भैरव मिश्र, राधवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगडकर, कृष्णमित्र, नित्यानन्द पर्वतीय एवं जयदेव मिश्र के नाम उल्लेखनीय हैं।

अन्य व्याकरण

पाणिनीय व्याकरण के अतिरिक्त संस्कृत के जो अन्य व्याकरण इस समय उपलब्ध हैं वे सभी पाणिनि की शैली से प्रभावित हैं। अवश्य ऐंद्र व्याकरण को कुछ लोग पाणिनि के पूर्व का मानते हैं। किंतु यह मत असंदिग्ध नहीं है। बर्नल के अनुसार ऐंद्र व्याकरण का संबंध कातंत्र से और तमिल के प्राचीनतम व्याकरण तोल्काप्पियम से है। ऐंद्र व्याकरण के आधार पर सातवाहन युग में शर्व वर्मा ने कातंत्र व्याकरण की रचना की। इसके दूसरे नाम कालापक और कौमार भी हैं। इस पर दुर्गसिंह की टीका प्रसिद्ध है। चांद्र व्याकरण चंद्रगोमी (ई. 500) की रचना है। इस पर उनकी वृत्ति भी है। इसकी शैली से काशिकाकार प्रभावित हैं।

जैनेन्द्र व्याकरण, जैन आचार्य देवनन्दी (लगभग छठी शताब्दी) की रचना है। इस पर अभयनन्दी की वृत्ति प्रसिद्ध है। उदाहरण में जैन संप्रदाय के शब्द मिलते हैं। जैनेन्द्र व्याकरण के आधार पर किसी जैन आचार्य ने 9वीं शताब्दी में शाकटायन व्याकरण लिखा और उसपर अमोघवृत्ति की रचना की। इस पर प्रभाचन्द्राचार्य का

न्यास और यक्ष वर्मा की वृत्ति प्रसिद्ध हैं। भोज (ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) का सरस्वतीकण्ठाभरण व्याकरण में वार्तिकों और गणपाठों को सूत्रों में मिला दिया गया है। पाणिनि के अप्रसिद्ध शब्दों के स्थान पर सुबोध शब्द रखे गए हैं। इस पर दंडनाथ नारायण की हृदयहारिणी टीका है। सिद्ध हेम अथवा हेम व्याकरण आचार्य हेमचन्द्र (ग्यारहवीं शताब्दी) रचित है। इसमें संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण का भी समावेश है। इस पर ग्रंथकार का न्यास और देवेन्द्र सूरि का लघुन्यास उल्लेखनीय हैं। सारस्वत व्याकरण के कर्त्ता अनुभूतिस्वरूपाचार्य (तेरहवीं शताब्दी) हैं। इस पर सारस्वत प्रक्रिया और रघुनाथ का लघुभाष्य ध्यान देने योग्य हैं। इसका प्रचार बिहार में पिछली पीढ़ी तक था। बोपदेव (तेरहवीं शताब्दी) का मुग्धबोध व्याकरण नितान्त सरल है। इसका प्रचार अभी हाल तक बंगाल में रहा है। पद्मनाभदत्त ने (15वीं शताब्दी) सुपद्य व्याकरण लिखा है। शेष श्रीकृष्ण (16वीं शताब्दी) की पदचन्द्रिका एक स्वतंत्र व्याकरण है। इस पर उनकी पदचन्द्रिकावृत्ति उल्लेखनीय है। क्रमदोश्वर का संक्षिप्तसार (जौमार) और रूपगोस्वामी का हरिनामामृत भी स्वतंत्र व्याकरण हैं। कवीन्द्राचार्य के संग्रह में ब्रह्मव्याकरण, यमव्याकरण, वरुणव्याकरण, सौम्यव्याकरण और शब्दतर्कव्याकरण के हस्तलेख थे, जिनके बारे में आज विशेष ज्ञान नहीं है। प्रसिद्ध किन्तु अनुपलब्ध व्याकरणों में वामनकृत विश्रान्तविद्याधर उल्लेखनीय है।

पंचांग व्याकरण

व्याकरणशास्त्र में पाँच अंगों की परम्परा दिखती है, इसीलिये 'पंचांग व्याकरण' भी प्रसिद्ध है। पाँच अंग ये हैं- सूत्रपाठ, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ तथा लिंगानुशासन। संस्कृतवांग्मय में पाणिनि का 'शब्दानुशासन' पाँच अवयवों से युक्त है। प्रमुख संस्कृत व्याकरणों के अपने-अपने गणपाठ और धातुपाठ हैं।

धातुपाठ

संस्कृत व्याकरण में क्रियाओं (verbs) के मूल रूप को धातु' कहते हैं। पंचों में से धातुपाठ अतिमहत्त्वपूर्ण है। धातु ही संस्कृत शब्दों के निर्माण के लिए मूल तत्त्व (कच्चा माल) है। इनकी संख्या लगभग 2012 है। धातुओं के साथ उपसर्ग, प्रत्यय मिलकर तथा सामासिक क्रियाओं के द्वारा सभी शब्द (संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि) बनते हैं। दूसरे शब्द में कहें तो संस्कृत का लगभग हर शब्द अन्ततः धातुओं के रूप में तोड़ा जा सकता है। कृ, भू, स्था, अन्, ज्ञा, युज्,

गम्, मन्, जन्, दृश् आदि कुछ प्रमुख धातुएँ हैं। 'धातु' शब्द स्वयं 'धा' में 'तिन्' प्रत्यय जोड़ने से बना है।

प्राय: सभी शब्दों की व्युत्पत्ति धातुओं से की जाती है। कहा गया है – सर्वं च नाम धातुजमाह।

अनेकों वैयाकरणों ने धातुपाठों का प्रवचन किया है। युधिष्ठिर मीमांसक ने व्याकरणशास्त्र के इतिहास में 26 वैयाकरणों का उल्लेख किया है। उनके व्याकरण आजकल प्राप्त नहीं हैं। अत: कहना कठिन है कि किन-किन ने धातुओं का प्रवचन किया।

काशकृत्स्न का धातुपाठ कन्नड़ भाषा में प्रकाशित है। भीमसेन का धातुपाठ तिब्बती (भोट) में प्रकाशित है। पूर्णचन्द्र का धातुपारायण, मैत्रेयरक्षित (दसवीं शताब्दी) का धातुप्रदीप, क्षीरस्वामी (दसवीं शताब्दी) की क्षीरतरंगिणी, सायण की माधवीय धातुवृत्ति, श्रीहर्षकीर्ति की धातुतरंगिणी, बोपदेव का कविकल्पद्रुम, भट्टमल्ल की आख्यातचन्द्रिका विशेष उल्लेखनीय हैं।

गणपाठ–गणपाठ सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रन्थों में वर्धमान (12वीं शताब्दी) का गणरत्नमहोदधि और भट्ट यज्ञेश्वर रचित गणरत्नावली (1874 ई.) प्रसिद्ध हैं।

उणादिपाठ–उणादि के विवरणकारों में उज्जवलदत्त प्रमुख हैं।

लिंगानुशासन–लिंगबोधक ग्रंथों में पाणिनि, वररुचि, वामन, हेमचन्द्र, शाकटायन, शांतनवाचार्य, हर्षवर्धन आदि के लिंगानुशासन प्रचलित हैं। इस विषय की प्राचीन पुस्तक 'लिंगकारिका' अनुपलब्ध है।

संस्कृत व्याकरण का दार्शनिक पक्ष

संस्कृत व्याकरण के दार्शनिक पक्ष का विवेचन व्याडि (लगभग ई. पू. 400) के 'संग्रह' से आरम्भ होता है, जिसके कुछ वाक्य ही आज अवशेष हैं। भर्तृहरि (लगभग ई. 500) का वाक्यपदीय व्याकरणदर्शन का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। स्वोपज्ञवृत्ति के अतिरिक्त इस पर वृषभदेव (छठी शताब्दी), पुण्यराज (नवीं शताब्दी) और हेलाराज (दसवीं शताब्दी) की टीकाएँ विश्रुत हैं। कौंडभट्ट (ई. 1600) का वैयाकरणभूषण और नागेश की वैयाकरण सिद्धांतमंजूषा उल्लेखनीय हैं। नागेश का स्फोटवाद, कृष्णभट्टमौनि की स्फोटचंद्रिका और भरतमिश्र की स्फोटसिद्धि भी इस विषय के लघुकाय ग्रंथ हैं। सीरदेव की परिभाषावृत्ति, पुरुषोत्तमदेव की परिभाषावृत्ति, विष्णुशेष का परिभाषाप्रकाश और नागेश का परिभाषेंदुशेखर पठनीय हैं। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में परिभाषेंदुशेखर पर लगभग 25

टीकाएँ लिखी गई हैं, जिनमें गदा, भैरवी, भावार्थदीपिका के अतिरिक्त तात्या शास्त्री पटवर्धन, गणपति शास्त्री मोकाटे, भास्कर शास्त्री, वासुदेव अभ्यंकर, मन्युदेव, चिद्रूपाश्रय आदि की टीकाएँ हैं।

कुछ लोग बीजगणित (अलजब्रा) के मूल में व्याकरण को देखते हैं क्योंकि व्याकरण में किसी मूल शब्द को विभिन्न शब्दों में बदलने की व्यवस्था थी जो बीजगणित में 'किसी प्रतीक या चर (variable) द्वारा विभिन्न मान ग्रहण करने' से काफी मिलती है।

संस्कृत व्याकरण के इतिहास में विदेशी विद्वानों का योगदान

संस्कृत व्याकरण के इतिहास में यूरोप के विद्वानों का भी योग है। पी. सासेती ने, जो 1583 से 1588 तक भारत में था, संस्कृत और इटली की भाषा का साम्य दिखलाया था। किंतु संस्कृत का नियमबद्ध व्याकरण जर्मन-यहूदी जे. ई. हाक्सेलेडेन ने लिखा। उसकी अप्रकाशित कृति के आधार पर जर्मन पादरी पौलिनस ने 1790 में संस्कृत का व्याकरण प्रकाशित किया जिसका नाम 'सिद्ध रुबम्' स्यू ग्रामाटिका संस्कृडामिका' था। फोर्ट विलियम कालेज के अध्यापक डॉ. विलियम कैरे ने 1802 में संस्कृत का व्याकरण अँगरेजी में प्रकाशित किया। कोलब्रुक ने 1805 में, विलकिन्स ने 1808 में, फोरेस्टर ने 1810 में, संस्कृत के व्याकरण लिखे। 1823 में ओथमार फ्रांक ने लैटिन भाषा में संस्कृत व्याकरण लिखा। 1834 में बोप्प ने जर्मन भाषा में संस्कृत व्याकरण लिखा जिसका नाम 'क्रिटिशे ग्रामाटिक डे संस्कृत स्प्राख' है। बेनफी ने 1863 में, कीलहार्न ने 1870 में, मॉनिअर विलियम्स ने 1877 में और अमरीका के विटनी ने 1879 में अपने संस्कृत व्याकरण प्रकाशित किए। एल. रेनो ने फ्रेंच भाषा में संस्कृत व्याकरण (1920) और वैदिक व्याकरण (1952) प्रकाशित किए। गणपाठ और धातुपाठ के संबंध में वेस्टरगार्द का रेडिसेज लिंग्वा संस्कृता (1841), बोटलिंक का पाणिनि ग्रामाटिक (1887), लीबिश का धातुपाठ (1920) ओर राबर्ट बिरवे का 'डर गणपाठ' (1961) उल्लेखनीय हैं। यूरोप के विद्वानों की कृतियों में मैकडोनेल का 'वैदिक ग्रामर' (1910) और वाकरनागेल का 'आल्ट्इंडिश ग्रामटिक' (3 भाग, 1896-1954) उत्कृष्ट ग्रंथ हैं। अंग्रेजी में लिखित श्री काले का 'हायर संस्कृत ग्रामर' भी प्रसिद्ध है।

7

हिन्दी की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

कविता

खड़ी बोली का आधुनिक साहित्य भारतेंदुयुग (1857-1900 ई.) में आविर्भूत हुआ। मध्यकालीन भक्ति औरशृंगार की भाषा ब्रजभाषा ही रही किंतु जनजागरण, समाजसुधार संबंधी काव्य खड़ी बोली में लिखा गया। 18वीं शताब्दी से ही प्रचलित सधुक्कड़ी खड़ी बोली में रचित सीतल और भगवतरसिक, सहचरीशरण आदि संतों की वाणी और 19वीं शताब्दी के रितालगिरि, तुकनगिरि, रूपकिशोर आदि लावनीकारों की लावनी परंपरा में भी इस युग में लावनी, गजल और उद्‌बोधनात्मक कविताएँ लिखी गई, फिर भी खड़ी बोली का यह प्रयोगयुग था और भारतेंदु को यह शिकायत थी कि खड़ी बोली में कविता जमती नहीं।

द्विवेदीयुगीन काव्यधारा

भारतेंदुयुग के अंत में (1886-87) यह काव्यभाषा खड़ी हो या ब्रज, इस विवाद में श्रीधर पाठक के एकांतवासी योगी (1886 ई.) ने खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता सिद्ध कर दी। अत: द्विवेदीयुगीन द्वितीय काव्यधारा में (1900-1920) खड़ी बोली में मुक्तक और प्रबंधकाव्यों की रचना हुई। रंग में भंग, जयद्रथवध, (1912), प्रियप्रवास (1912), रामचरितचिंतामणि, पथिक (1917), मिलन (1925) आदि प्रबंधकाव्यों में प्राचीन, नवीन वीरों का चरित गायन हुआ।

'प्रियप्रवास' में भगवान कृष्ण को जननायक रूप में चित्रित किया गया और पथिक में देशभक्ति की अनुपम झाँकी प्रस्तुत की गई। रीतिकालीन नायिकाभेद, उद्दाम शृंगार, उद्दीपनपरक प्रकृतिचित्रण और कवित्त, सवैयों के स्थान पर, आर्यसमाज और नवराष्ट्रजागरण के कारण मर्यादामय प्रेम, प्रकृति के आलंबनगत चित्रण, नवीन गीतिका, हरगीतिका आदि छंदों, संस्कृत के वर्णवृत्तों का प्रयोग, समाजसुधारात्मक तथा इतिवृत्तात्मक पद्यों की रचना, इस युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, बालमुकुंद गुप्त, सियारामशरण गुप्त, नाथूराम शर्मा 'शंकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय, रूपनारायण पांडेय, लोचनप्रसाद पांडेय और श्रीधर पाठक के प्रयत्न से खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता का निर्णय हो गया। प्रियप्रवास और भारतभारती इस युग की विशिष्ट कृतियाँ मानी जाती हैं। शैली की दृष्टि से यह युग अभिधावादी ही रहा, उद्गार और उद्बोधनात्मक काव्य में सूक्ष्म कला का विकास संभव न हो सका।

छायावाद तथा रहस्यवाद

छायावाद और रहस्यवाद (1920-35) तृतीय काव्यधारा है। 19वीं और 20वीं शताब्दी में अंग्रेजी शिक्षा संस्थाओं के कारण अंग्रेजी के स्वच्छंदतवादी काव्य का प्रभाव प्रत्यक्षत: और अप्रत्यक्षत: बँगला के माध्यम से हिंदी काव्य पर पड़ा। अत: तृतीय धारा के छायावादी तथा रहस्यवादी काव्य में द्विवेदीयुगीन स्थूल मर्यादावाद, प्रवचनात्मकता और विवरणात्मक प्रकृतिचित्रण के स्थान पर स्वच्छंद प्रेम की पुकार, प्रेयसी का देवीकरण, अंतरराष्ट्रीयता और विश्वमानववाद, प्रकृति और प्रेयसी के माध्यम से निजी आशानिराशाओं का वर्णन, प्रकृति पर चेतना का आरोप, सौंदर्य अनुसंधान, अलौकिक से प्रेम के कारण द्विवेदीयुगीन स्थूल संघर्ष से पलायन, गीतात्मकता, लक्षण, विशेषणविपर्यय तथा भाषा का कोमलीकरण प्रत्यक्ष और प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। प्रसाद (आँसू, लहर, झरना, कामायनी), सुमित्रानंदन पंत (पल्लव, गुंजन), निराला (जुही की कली, गीतिका के गीत आदि) और महादेवी ने परोक्ष सत्ता को प्रेम का विषय बनाकर प्रकृति में उसके आभास, आत्मनिवेदन और संयोगवियोग की कलात्मक अभिव्यक्तियों द्वारा काव्य को अलंकृत, लाक्षणिक, गीत्यात्मक और सूक्ष्म बनाया। द्विवेदीयुगीन राष्ट्रीयता की गूँज इन कवियों में यत्र-तत्र मिलती है, विशेषकर निराला के बादलराग, जागो फिर एक बार आदि कृतियों में। पुनर्जागरण का पौरुषपरक रूप निराला में (राम की शक्तिपूजा) और सांस्कृतिक रूप उपनिषदों

के ब्रह्मवादी दर्शन में मिला। कामायनी तृतीय धारा की सर्वोत्कृष्ट कृति है, जिसमें रहस्यमय सत्ता की प्राप्ति के आवरण में पुरुष नारी, राजा प्रजा, प्रकृति पुरुष और मानवीय वृत्तियों में सामरस्य स्थापित करने का संदेश प्रस्तुत किया गया। तृतीय धारा में निराला ने मुक्त छंदों, पंत ने संस्कृत वर्णवृत्तों के स्थान पर हिंदी के छंदों, महादेवी और प्रसाद ने गेय गीतों का प्रयोग किया। प्रकृति और प्रेम के भव्य, मार्मिक चित्रण इस युग की विशिष्ट उपलब्धियाँ हैं। अंगरेजी के शेली, कीट्स और बँगला के कवींद्र रवींद्र से प्रभावित होने पर हिंदी का छायावादी रहस्यवादी काव्य अपनी विशिष्टता की दृष्टि से मौलिक और मार्मिक है। कामायनी में चिंता, आशा, वासनादि मनोवृत्तियों, निराला के तुलसीदास और राम की शक्तिपूजा में मानसिक अंतर्द्वद्वों, महादेवी के गीतों में मीरा जैसी विरह वेदना और पंत के प्रकृतिचित्रण में सौंदर्यविधान इतना आकर्षक हुआ है कि यह युग हिंदी काव्य का स्वर्णयुग कहा जाता है। भाषा का शृंगार और सांकेतिक शक्ति का विकास अपनी चरम सीमा पर इसी युग में पहुँचा।

हालावाद तथा मांसलवाद

छायावाद के उत्तरकाल (1930 के पश्चात) में छायावादी सूक्ष्म, लाक्षणिक रहस्यवादी अभिव्यक्ति के विरुद्ध हालावाद (बच्चन की मधुशाला, मधुबाला 1933-35) और मांसलवाद (अंचल की अपराजिता 1930, मधूलिका आदि) का प्रवर्तन हुआ। बच्चन की हालावादी रचनाओं में फारसी उर्दू के सूफियाना काव्य की मस्ती, दीवानगी, मर्यादावाद का विरोध और भोगवादी दृष्टिकोण व्यंजित हुआ है। मांसलवाद में वासना की घोषणा ही प्रधान होती गई। नरेंद्र शर्मा (प्रवासी के गीत) में क्षयी रोमांसवाद की निराशा और भगवतीचरण वर्मा में आत्मविज्ञप्ति अधिक मिलती है। हालावाद और मांसलवाद एक ओर तो द्विवेदीयुगीन संयमवाद और परंपरागत नैतिकतावाद के विरुद्ध था और दूसरी ओर इसमें छायावाद की अस्पष्ट, धूमिल, गहन प्रेमानुभूति के स्थान पर अभिधामय आत्मविज्ञान अधिक था। उर्दू की 'तरजे अदायगी' की ये रचनाएँ युवकों में अधिक प्रिय हुई।

प्रगतिवाद

खड़ी बोली की चतुर्थ धारा प्रगतिवाद (1936 के पश्चात) है। छायावादयुग में ही रूसी राज्यक्रांति के प्रभाववश साम्यवादी धारणाओं का प्रचार हो चुका था।

1935–36 में प्रगतिशील लेखकसंघ की स्थापना हुई। प्रगतिवाद कवि मार्क्सवाद से प्रभावित कवि थे। पंत जी के युगांत, युगवाणी, निराला की 'वह तोड़ती पत्थर,' 'बादलरांग', 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'नए पत्ते' आदि द्वारा इसका रूप स्पष्ट हुआ। यह आंदोलन सामंतवादी – पूँजीवादी तत्त्वों और साहित्यक्षेत्र में प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध क्रांति लेकर उपस्थित हुआ। जनता के दारिद्य, पूँजीपतियों के विरुद्ध आक्रोश, इतिहास, धर्म, संस्कृति, कला की भौतिकवादी व्याख्या, ब्रह्मवाद का विरोध तथा छायावादी अलंकृत शैली के विरुद्ध अभिधावादी शैली का प्रयोग इस धारा की प्रमुख विशेषताएँ हैं। छायावाद में शृंगार तथा प्रगतिवाद में करुण, वीर, रौद्र रसों को अधिक अभिव्यक्ति मिली। किंतु द्विवेदीयुग के सदृश इस युग में पुनः स्थूलता का आगमन हुआ, इसमें कला कम गर्जन तर्जन, उद्‌गार अधिक मिलते हैं। रांगेय राघव (पिघलते पत्थर, आक्रमण), दिनकर (हुंकार), केदारनाथ अग्रवाल, शिवमंगलसिंह सुमन (जीवन के गान), नागार्जुन, भगवतीचरण वर्मा (भैंसागाड़ी) शमशेर, पंत जी (ग्राम्या), गजानन, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, उदयशंकर भट्ट, अंचल, नरेंद्र शर्मा आदि ने प्रगतिवादी काव्य की सृष्टि की। प्रेमचंद का 'हंस' इस साहित्य का मुखपत्र था। प्रगतिवादियों ने छायावादियों के विरुद्ध जीवन के यथार्थ को वाणी दी। प्रकृति को रेमानी दृष्टि से न देखकर उसे जीवन की वास्तविकता के संदर्भ में रखकर देखा है। प्रगतिवादी काव्य में व्यंग्य का सर्वाधिक विकास हुआ है। प्रगतिवाद आज भी एक जीवंत काव्यधारा है, उसने अब हुंकारात्मक रूप छोड़कर अधिक सूक्ष्म और कलामय रूप अपनाया है।

प्रयोगवाद

खड़ी बोली काव्य की पंचम धारा प्रयोगवाद कहलाती है (1943 ई. के पश्चात्)। स. ही. वा. अज्ञेय ने, जो प्रगतिवादी भी रह चुके थे, 1943 में प्रथम तारसप्तक में मुख्यतः प्रगतिवादी कवियों की नए ढंग की प्रयोगात्मक रचनाएँ प्रकाशित की। 1951 में द्वितीय सप्तक प्रकाशित हुअ। इसके पश्चात् इस धारा को 'नई कविता' नाम मिला। प्रयाग की 'नई कविताष, हैदराबाद की 'कल्पना' और दिल्ली की 'कृति' नामक पत्रिकाओं के अतिरिक्त अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, प्रभाकर माचवे, डा. देवराज, शंभुनाथ सिंह, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रघुवीर सहाय, शमशेर, बालकृष्ण राव, लक्ष्मीकांत वर्मा आदि के काव्यसंग्रहों और स्फुट रचनाओं से प्रयोगवाद या नई कविता का रूप स्पष्ट हुआ।

यह काव्य मुख्यतः छायावादी रोमानी दृष्टि और अलंकृति तथा प्रगतिवादी अनगढ़ता के विरुद्ध 'रूपवादी आंदोलन है। छायावाद का प्रेरणास्रोत अंग्रेजी का रोमांटिक काव्य और प्रयोगवाद का प्रेरणास्रोत यूरोप का प्रतीकवाद (फ्रांस), अतियथार्थवाद, अस्तित्त्ववाद तथा आधुनिक चित्रकलावाद था। प्रगतिशील प्रयोगवादियों पर यूरोपीय प्रभाव केवल शिल्प की दृष्टि से ही है, किंतु प्रयोगवादी कथ्य के विरोधी प्रयोगवादियों पर उक्त प्रभाव अधिक घनीभूत है, इसमें व्यक्ति की अस्तित्त्व आशंका, अनास्था, अवसाद, निराशा, भ्रमनाश, सामाजिकता के विरुद्ध व्यक्तिवाद, महत्ता के स्थान पर 'लघुतावाद' अवचेतनस्थित कुंठा, आदि को प्रतीकात्मक और बिंबात्मक शैली में व्यक्त किया गया है। 'रस' के स्थान पर बुद्धिवाद, कथ्य को प्रतीकों और बिंबों द्वारा यथावत् प्रस्तुत करने की चेष्टा, भाषा के नवीन प्रयोग, वार्तालापात्मक और वक्तव्यपरक शैली पर बल, गूढ़ और अब तक अछूते विषयों की अभिव्यक्ति इस धारा की विशेषतएँ हैं। प्राचीन आख्यानों का नवीन प्रश्नों को प्रस्तुत करने के लिए प्रयोग किया गया है। छंदों की दृष्टि से यह धारा पूर्ण स्वच्छंद है। 'छंदगंध' मात्र ही इस नए काव्य में अधिक है। शब्दलय के स्थान पर अर्थलय के प्रयोग पर अधिक बल दिया गया है, यद्यपि बहुत से कवि गद्यात्मकता के साथ साथ मुक्त छंदों का भी प्रयोग करते हैं। चित्रकला के प्रभाववाद, भविष्यवाद, यथादृश्यवाद तथा टी. एस. इलियट, एजरा पौंड, बॅदलेयर, मलामें, रिल्के, रिंबों आदि कावियों की कला से नई कविता अत्यधिक प्रभावित है। लोकजीवन से प्रभावित कविताएँ भी लिखी गई हैं। घोर व्यक्तिवाद, क्षण में अनुभूत अनुभूतियों की बिंबात्मक अभिव्यक्ति से जहाँ नवीनता की सृष्टि अधिक हुई हैं –विशेषकर नूतन अप्रस्तुत विधान के क्षेत्र में, वहीं भाषा की अव्यवस्थता, अभिव्यक्ति की अस्पष्टता, धूमिल संकेतात्मकता, भावदारिद्र्य, छंदद्रोह और बौद्धिक आग्रह इस काव्य के दोष हैं।

नवगीतवाद

खड़ी बोली की 'ाष्ठ धारा है नवगीतवाद। बच्चन, नीरज, वीरेंद्र मिश्र, शंभुनाथ सिंह, रंग, रमानाथ अवस्थी, ठाकुरप्रसाद सिह, अंचल, सुरेंद्र तिवारी, सोम, कमलेश, केदारनाथ सिंह, गिरधर गोपाल, रामावतार त्यागी, गिरजाकुमार माथुर, कैलास वाजपेयी, राही, सुमन और नेपाली आदि गीतकारों ने प्रेम, प्रकृति और समाज के विषय में नूतन अप्रस्तुत विधान द्वारा पदार्थ छवियों और भावनाओं को वाणी दी है। अपेक्षाकृत सरल और स्पष्ट भाषा का प्रयोग, अहंसापेक्ष

अनुभूतियों को अहंनिरपेक्ष करने का चाव और कवि सम्मेलनों में अधिकाधिक जनप्रियता पाने की इच्छा, इन कवियों की विशेषता है। नई कविता की परिपाटी पर 'नए गीत' भी आज के काव्य की उपलब्धि है।

इन नवीन धाराओं के अतिरिक्त परंपरागत शैली में प्रबंधकाव्य भी लिखे जाते हैं। तक्षशिला (उदयशंकर भट्ट), नूरजहाँ, (गुरुभक्त सिंह), उर्मिला (नवीन), सिद्धार्थ और वर्द्धमान (अनूप शर्मा), दैत्यवंश (हरदयालुसिंह), छत्रसाल (लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी') पार्वती (रामानंद तिवारी) आदि ऐसे ही काव्य हैं। इधर गांधी, प्रेमचंद, मीरा आदि पर भी प्रबंधकाव्य लिखे गए हैं। दिनकर की 'उर्वशी' पुरानी शैली में एक उल्लेखनीय उपलब्धि है, जिसमें कामायनी और पार्वती के समान मानवमन के शाश्वत अंतर्विरोध का आकर्षक वर्णन है। किंतु नवीनतावादियों की तुलना में परंपरागत प्रबंधकाव्यों का सम्मान कम हो रहा है।

आधुनिक हिंदी पद्य का इतिहास

आधुनिक काल 1850 से हिंदी साहित्य के इस युग को भारत में राष्ट्रीयता के बीज अंकुरित होने लगे थे। स्वतंत्रता संग्राम लड़ा और जीता गया। छापेखाने का आविष्कार हुआ, आवागमन के साधन आम आदमी के जीवन का हिस्सा बने, जन संचार के विभिन्न साधनों का विकास हुआ, रेडिओ, टी वी व समाचार पत्र हर घर का हिस्सा बने और शिक्षा हर व्यक्ति का मौलिक अधिकार। इन सब परिस्थितियों का प्रभाव हिंदी साहित्य पर अनिवार्यतः पड़ा। आधुनिक काल का हिंदी पद्य साहित्य पिछली सदी में विकास के अनेक पड़ावों से गुजरा। जिसमें अनेक विचार धाराओं का बहुत तेजी से विकास हुआ। जहां काव्य में इसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग, प्रयोगवादी युग, नयी कविता युग और साठोत्तरी कविता इन नामों से जाना गया, छायावाद से पहले के पद्य को भारतेंदु हरिश्चंद्र युग और महावीर प्रसाद द्विवेदी युग के दो और युगों में बाँटा गया। इसके विशेष कारण भी हैं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र युग की कविता (1850-1900)

ईस्वी सन 1850 से 1900 तक की कविताओं पर भारतेंदु हरिश्चंद्र का गहरा प्रभाव पड़ा है। वे ही आधुनिक हिंदी साहित्य के पितामह हैं। उन्होंने भाषा को एक चलता हुआ रूप देने की कोशिश की। आपके काव्य-साहित्य में प्राचीन

एवं नवीन का मेल लक्षित होता है। भक्तिकालीन, रीतिकालीन परंपराएं आपके काव्य में देखी जा सकती हैं तो आधुनिक नूतन विचार और भाव भी आपकी कविताओं में पाए जाते हैं। आपने भक्ति-प्रधान, श्रृंगार-प्रधान, देश-प्रेम-प्रधान तथा सामाजिक-समस्या-प्रधान कविताएं की हैं। आपने ब्रजभाषा से खड़ीबोली की ओर हिंदी-कविता को ले जाने का प्रयास किया। आपके युग में अन्य कई महानुभाव ऐसे हैं, जिन्होंने विविध प्रकार हिंदी साहित्य को समृध्द किया। इस काल के प्रमुख कवि हैं-

भार्तेन्दु हरिश्चन्द्र
प्रताप नारायण मिश्र
बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'
राधाचरण गोस्वामी
अम्बिका दत्त व्यास

पं महावीर प्रसाद द्विवेदी युग की कविता (1900-1920)

सन 1900 के बाद दो दशकों पर पं महावीर प्रसाद द्विवेदी का पूरा प्रभाव पड़ा। इस युग को इसीलिए द्विवेदी-युग कहते हैं। 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के रूप में आप उस समय पूरे हिंदी साहित्य पर छाए रहे। आपकी प्रेरणा से ब्रज-भाषा हिंदी कविता से हटती गई और खड़ी बोली ने उसका स्थान ले लिया। भाषा को स्थिर, परिष्कृत एवं व्याकरण-सम्मत बनाने में आपने बहुत परिश्रम किया। कविता की दृष्टि से वह इतिवृत्तात्मक युग था। आदर्शवाद का बोलबाला रहा। भारत का उज्ज्वल अतीत, देश-क्ति, सामाजिक सुधार, स्वभाषा-प्रेम वगैरह कविता के मुख्य विषय थे। नीतिवादी विचारधारा के कारण श्रृंगार का वर्णन मर्यादित हो गया। कथा-काव्य का विकास इस युग की विशेषता है। भाषा खुरदरी और सरल रही। मधुरता एवं सरलता के गुण अभी खड़ी-बोली में आ नहीं पाए थे। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि इस युग के यशस्वी कवि हैं। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने इसी युग में ब्रज भाषा में सरस रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इस युग के प्रमुख कवि-

1. अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
2. रामचरित उपध्याय
3. जगन्नाथ दास रत्नाकर।
4. गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'

5. श्रीधर पाठक
6. राम नरेश त्रिपाठी
7. मैथिलीशरण गुप्त
8. लोचन प्रसाद पाण्डेय
9. सियारामशरण गुप्त

छायावादी युग की कविता (1920-1936)

सन 1920 के आसपास हिंदी में कल्पनापूर्ण स्वछंद और भावुक कविताओं की एक बाढ़ आई। यह यूरोप के रोमांटिसिज्म से प्रभावित थी। भाव, शैली, छंद, अलंकार सब दृष्टियों से इसमें नयापन था। भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद लोकप्रिय हुई इस कविता को आलोचकों ने छायावादी युग का नाम दिया। छायावादी कवियों की उस समय भारी कटु आलोचना हुई परंतु आज यह निर्विवाद तथ्य है कि आधुनिक हिंदी कविता की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि इसी समय के कवियों द्वारा हुई। जयशंकर प्रसाद, निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा इस युग के प्रधान कवि हैं।

उत्तर-छायावाद युग-(1936-1943)

यह काल भारतीय राजनीति में भारी उथल-पुथल का काल रहा है। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय, कई विचारधाराओं और आन्दोलनों का प्रभाव इस काल की कविता पर प डॉ. द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह परिणामों के प्रभाव से भी इस काल की कविता बहुत हद तक प्रभावित है। निष्कर्षत:राष्ट्रवादी, गांधीवादी, विप्लववादी, प्रगतिवादी, यथार्थवादी, हालावादी आदि विविध प्रकार की कवितायें इस काल में लिखी गई। इस काल के प्रमुख कवि हैं–

1. माखनलाल चतुर्वेदी
2. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'
3. सुभद्रा कुमारी चौहान
4. रामधारी सिंह 'दिनकर'
5. हरिवंश राय 'बच्चन'
6. भगवतीचरण वर्मा।

नरेन्द्र शर्मा

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
शिवमंगल सिंह 'सुमन'
नागार्जुन
केदारनाथ अग्रवाल
त्रिलोचन
रांगेयराघव

प्रगतिवादी युग की कविता (1936)

छायावादी काव्य बुद्धिजीवियों के मध्य ही रहा। जन-जन की वाणी यह नहीं बन सका। सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलनों का सीधा प्रभाव इस युग की कविता पर सामान्यत: नहीं पड़ा। संसार में समाजवादी विचारधारा तेजी से फैल रही थी। सर्वहारा वर्ग के शोषण के विरुद्ध जनमत तैयार होने लगा। इसकी प्रतिच्छाया हिंदी कविता पर भी पड़ी और हिंदी साहित्य के प्रगतिवादी युग का जन्म हुआ। 1930 के बाद की हिंदी कविता ऐसी प्रगतिशील विचारधारा से प्रभावित है। 1936 में 'प्रगतिशील लेखक संघ' के गठन के साथ हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित प्रगतिवादी आन्दोलन की शुरुआत हुई .इसका सबसे अधिक दूरगामी प्रभाव हिन्दी आलोचना पर पड़ा। मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी साहित्य के समूचे इतिहास को वर्ग-संघर्ष के दृष्टिकोण से पुनर्मूल्यांकन करने का प्रयास आरंभ किया। प्रगतिवादी कवियों में नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के साथ नयी कविता के कवि मुक्तिबोध और शमशेर को भी रखा जाता है।

प्रयोगवाद-नयी कविता युग की कविता (1943-1960)

दूसरे विश्वयुद्ध के पश्चात संसार भर में घोर निराशा तथा अवसाद की लहर फैल गई। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। 'अज्ञेय' के संपादन में 1943 में 'तार सप्तक' का प्रकाशन हुआ। तब से हिंदी कविता में प्रयोगवादी युग का जन्म हुआ ऐसी मान्यता है। इसी का विकसित रूप नयी कविता कहलाता है। दुर्बोधता, निराशा, कुंठा, वैयक्तिकता, छंदहीनता के आक्षेप इस कविता पर भी किए गए हैं। वास्तव में नयी कविता नयी रुचि का प्रतिबिंब है। इस धारा के मुख्य कवि हैं-

अज्ञेय,
गिरिजाकुमार माथुर,
प्रभाकर माचवे,
भारतभूषण अग्रवाल,
मुक्तिबोध,
शमशेर बहादुर सिंह,
धर्मवीर भारती,
नरेश मेहता,
रघुवीर सहाय,
जगदीश गुप्त,
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना,
कुंवर नारायण,
केदार नाथ सिंह।

इस प्रकार आधुनिक हिंदी खड़ी बोली कविता ने भी अल्प समय में उपलब्धि के उच्च शिखर सर किए हैं। क्या प्रबंध काव्य, क्या मुक्तक काव्य, दोनों में हिंदी कविता ने सुंदर रचनाएँ प्राप्त की हैं। गीति-काव्य के क्षेत्र में भी कई सुंदर रचनाएँ हिंदी को मिली हैं। आकार और प्रकार का वैविध्य बरबस हमारा ध्यान आकर्षित करता है। संगीत-रूपक, गीत-नाटय वगैरह क्षेत्रों में भी प्रशंसनीय कार्य हुआ है। कविता के बाह्य एवं अंतरंग रूपों में युगानुरूप जो नये-नये प्रयोग नित्य-प्रति होते रहते हैं, वे हिंदी कविता की जीवनी-शक्ति एवं स्फूर्ति के परिचायक हैं।

आधुनिक हिंदी गद्य का इतिहास

हिंदी साहित्य शुरू करने का श्रेय प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान लेखक गार्सा दतासी को दिया जा सकता है। हिंदी गद्य के अविभाज्य के संबंध में विद्वान एकमत नहीं है। कुछ 10वीं शताब्दी मांनते हैं कुछ 11वीं शताब्दी, कुछ 13 शताब्दी। राजस्थानी एवं ब्रज भाषा में हमें गद्य के प्राचीनतम प्रयोग मिलते हैं। राजस्थानी गद्य की समय सीमा 11वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी तथा ब्रज गद्य की सीमा 14वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक मानी जाती है। माना जाता है कि 10वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी के मध्य ही हिंदी गद्य की शुरुआत हुई थी। खड़ी बोली के प्रथम दर्शन अकबर के दरबारी कवि गंग द्वारा रचित चंद छंद बरनन

की महिमा में होते हैं अध्ययन की दृष्टि से हिंदी गद्य साहित्य के विकास को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है। हिन्दी गद्य के विकास को विभिन्न सोपानों में विभक्त किया जा सकता है-

(1) पूर्व भारतेंदु युग(प्राचीन युग)– 13 बमदजनतल ईस्वी से 1868 ईस्वी तक।

(2) भारतेंदु युग(नवजागरण काल)– 1868-1900।
ईस्वी से 1900 ईस्वी तक

(3) द्विवेदी युगरू 1900 ईस्वी से 1922 ईस्वी तक.

(4) शुक्ल युग(छायावादी युग)– 1922 ईस्वी से 1938 ईस्वी तक

(5) शुक्लोत्तर युग(छायावादोत्तर युग)– 1938 ईस्वी से 1947
आज तक

(6) स्वातंत्र्योत्तर युग सन् 1947 से अब तक।
Soure:NCERT Hindi UP board- By:नीरज यादव - अभय गौड

19वीं सदी से पहले का हिन्दी गद्य

हिन्दी गद्य के उद्भव को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान हिन्दी गद्य की शुरूआत 19वीं सदी से ही मानते हैं जबकि कुछ अन्य हिन्दी गद्य की परम्परा को 11वीं-12वीं सदी तक ले जाते हैं। आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी गद्य की निम्न परम्पराएं मिलती हैं-

(1) राजस्थानी में हिन्दी गद्य

(2) ब्रजभाषा में हिन्दी गद्य

(3) दक्खिनी में हिन्दी गद्य

(4) गुरूमुखी लिपि में हिन्दी गद्य

भारतेंदु पूर्व युग

हिन्दी में गद्य का विकास 19वीं शताब्दी के आसपास हुआ। इस विकास में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कॉलेज की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस कॉलेज के दो विद्वानों लल्लूलाल जी तथा सदल मिश्र ने गिलक्राइस्ट के निर्देशन में क्रमशः प्रेमसागर तथा नासिकेतोपाख्यान नामक पुस्तकें तैयार कीं। इसी समय सदासुखलाल ने सुखसागर तथा मुंशी इंशा अल्ला खां ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की इन सभी ग्रंथों की भाषा में उस समय प्रयोग में आने

वाली खडी बोली को स्थान मिला। ये सभी कृतियाँ सन् 1803 में रची गयी थीं।

आधुनिक खडी बोली के गद्य के विकास में विभिन्न धर्मों की परिचयात्मक पुस्तकों का खूब सहयोग रहा जिसमें ईसाई धर्म का भी योगदान रहा। बंगाल के राजा राम मोहन राय ने 1815 ईस्वी में वेदांत सूत्र का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद उन्होंने 1829 में बंगदूत नामक पत्र हिन्दी में निकाला। इसके पहले ही 1826 में कानपुर के पं जुगल किशोर ने हिन्दी का पहला समाचार पत्र उदंतमार्तंड कलकत्ता से निकाला. इसी समय गुजराती भाषी आर्य समाज संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में लिखा।

भारतेंदु युग

भारतेंदु हरिश्चंद्र (1850-1885) को हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। उन्होंने कविवचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन और हरिश्चंद्र पत्रिका निकाली. साथ ही अनेक नाटकों की रचना की. उनके प्रसिद्ध नाटक हैं- चंद्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी. ये नाटक रंगमंच पर भी बहुत लोकप्रिय हुए. इस काल में निबंध नाटक उपन्यास तथा कहानियों की रचना हुई। इस काल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, बाबू देवकी नंदन खत्री और किशोरी लाल गोस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लेखक होने के साथ साथ पत्रकार भी थे।

श्रीनिवासदास के उपन्यास परीक्षागुरू को हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जाता है। कुछ विद्वान श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास भाग्यवती को हिन्दी का पहला उपन्यास मानते हैं। बाबू देवकीनंदन खत्री का चंद्रकांता तथा चंद्रकांता संतति आदि इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं। ये उपन्यास इतने लोकप्रिय हुए कि इनको पढने के लिये बहुत से अहिंदी भाषियों ने हिंदी सीखी। इस युग की कहानियों में शिवप्रसाद सितारे हिन्द की राजा भोज का सपना महत्त्वपूर्ण है।

बलदेव अग्रहरि की सन 1887 में प्रकाशित नाट्य पुस्तक 'सुलोचना सती' में सुलोचना की कथा के साथ आधुनिक कथा को भी स्थान दिया गया हैं, जिसमे संपादको और देश सुधारको पर व्यंग्य किया गया हैं। कई नाटको में मुख्य

कथानक ही यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। बलदेव अग्रहरि की सुलोचना सती में भिन्नतुकांत छंद का आग्रह भी दिखाई देता हैं।

द्विवेदी युग

पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम द्विवेदी युग रखा गया। सन 1903 ईस्वी में द्विवेदी जी ने सरस्वती पत्रिका के संपादन का भार संभाला. उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बडे समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ।

इस युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्याम सुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्ण सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं। किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है।

हिंदी कहानी का वास्तविक विकास द्विवेदी युग से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की इंदुमती कहानी को कुछ विद्वान हिंदी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में बंग महिला की दुलाई वाली, शुक्ल जी की ग्यारह वर्ष का समय, प्रसाद जी की ग्राम और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की उसने कहा था महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। हरिऔध, शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा कुछ नाटक लिखे गए। इस युग ने कई सम्पादकों जन्म दिया। पन्डित ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने आधा दर्जन से अधिक पत्रों का सम्पादन किया। शिव पूजन सहाय उनके योग्य शिष्यों में शुमार हुए। इस युग में हिन्दी आलोचना को एक दिशा मिली। इस युग ने हिन्दी के विकास की नींव रखी। यह कई मायनों में नई मान्यताओं की स्थापना करने वाला युग रहा।

रामचंद्र शुक्ल एवं प्रेमचंद युग

गद्य के विकास में इस युग का विशेष महत्त्व है। पं रामचंद्र शुक्ल (1884–1941) ने निबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास और समालोचना के क्षेत्र में गंभीर लेखन किया। उन्होंने मनोविकारों पर हिंदी में पहली बार निबंध लेखन

किया। साहित्य समीक्षा से संबंधित निबंधों की भी रचना की। उनके निबंधों में भाव और विचार अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय है। हिंदी शब्दसागर की भूमिका के रूप में लिखा गया उनका इतिहास आज भी अपनी सार्थकता बनाए हुए है। जायसी, तुलसीदास और सूरदास पर लिखी गयी, उनकी आलोचनाओं ने भावी आलोचकों का मार्गदर्शन किया। इस काल के अन्य निबंधकारों में जैनेन्द्र कुमार जैन, सियारामशरण गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और जयशंकर प्रसाद आदि उल्लेखनीय हैं।

कथा साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचंद ने क्रांति ही कर डाली। अब कथा साहित्य केवल मनोरंजन, कौतूहल और नीति का विषय ही नहीं रहा, बल्कि सीधे जीवन की समस्याओं से जुड़ गया।उन्होंने सेवा सदन, रंगभूमि, निर्मला, गबन एवं गोदान आदि उपन्यासों की रचना की। उनकी तीन सौ से अधिक कहानियाँ मानसरोवर के आठ भागों में तथा गुप्तधन के दो भागों में संग्रहित हैं। पूस की रात, कफन, शतरंज के खिलाडी, पंच परमेश्वर, नमक का दरोगा तथा ईदगाह आदि उनकी कहानियां खूब लोकप्रिय हुई। इसकाल के अन्य कथाकारों में विश्वंभर शर्मा कौशिक, वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का विशेष स्थान है। इनके चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी जैसे ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना तथा भारतीय और पाश्चात्य नाट्य पद्धतियों का समन्वय हुआ है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचंद्र माथुर आदि इस काल के उल्लेखनीय नाटककार हैं।

अद्यतन काल

इस काल में गद्य का चहुंमुखी विकास हुआ। पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्र कुमार, अज्ञेय, यशपाल, नंददुलारे वाजपेयी, डॉ. नगेंद्र, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा डॉ. रामविलास शर्मा आदि ने विचारात्मक निबंधों की रचना की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेर नाथ राय, कन्है,लाल मिश्र प्रभाकर, विवेकी राय, ने ललित निबंधों की रचना की है। हरिशंकर परसांई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींन्द्रनाथ त्यागी, तथा के पी सक्सेना, के व्यंग्य आज के जीवन की विद्रूपताओं के उद्घाटन में सफल हुए हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव और भगवती चरण वर्मा ने उल्लेखनीय उपन्यासों

की रचना की. नागार्जुन, फणीश्वर नाथ रेणु, अमृतराय, तथा राही मासूम रजा ने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त, आदि ने आधुनिक भाव बोध वाले अनेक उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। अमरकांत, निर्मल वर्मा तथा ज्ञानरंजन आदि भी नए कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं।

प्रसादोत्तर नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा, मोहन राकेश तथा कमलेश्वर के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्है,ालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने संस्मरण रेखाचित्र व जीवनी आदि की रचना की है। शुक्ल जी के बाद पं हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह ने हिंदी समालोचना को समृद्ध किया। आज गद्य की अनेक नयी विधाओं जैसे यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, आलेख आदि में विपुल साहित्य की रचना हो रही है और गद्य की विधाएं एक दूसरे से मिल रही हैं।

8

भक्ति काल

भक्ति काल क्या है में भक्ति काल अपना एक अहम और महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आदिकाल के बाद आए इस युग को पूर्व मध्यकाल भी कहा जाता है। जिसकी समयावधि संवत् 1343ई से संवत् 1643ई तक की मानी जाती है। यह हिंदी साहित्य (साहित्यिक दो प्रकार के हैं- धार्मिक साहित्य और लौकिक साहित्य) का श्रेष्ठ युग है। जिसको जॉर्ज ग्रियर्सन ने स्वर्णकाल, श्यामसुन्दर दास ने स्वर्णयुग, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्ति काल एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लोक जागरण कहा। सम्पूर्ण साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएँ इसी युग में प्राप्त होती हैं।

दक्षिण में आलवार बंधु नाम से कई प्रख्यात भक्त हुए हैं। इनमें से कई तथाकथित नीची जातियों के भी थे। वे बहुत पढे-लिखे नहीं थे, परंतु अनुभवी थे। आलवारों के पश्चात दक्षिण में आचार्यों की एक परंपरा चली, जिसमें रामानुजाचार्य प्रमुख थे।

रामानुजाचार्य की परंपरा में रामानंद हुए। उनका व्यक्तित्त्व असाधारण था। वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद तोड़ दिया। सभी जातियों के अधिकारी व्यक्तियों को आपने शिष्य बनाया। उस समय का सूत्र हो गया:

जाति-पांति पूछे नहिं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

रामानंद ने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया। रामानंद ने और उनकी शिष्य-मंडली ने दक्षिण की भक्ति गंगा का उत्तर में प्रवाह किया। समस्त उत्तर-भारत इस पुण्य-प्रवाह में बहने लगा। भारत भर में उस समय पहुंचे हुए संत और महात्मा भक्तों का आविर्भाव हुआ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य ने पुष्टि-मार्ग की स्थापना की और विष्णु के कृष्णावतार की उपासना करने का प्रचार किया। उनके द्वारा जिस लीला-गान का उपदेश हुआ उसने देशभर को प्रभावित किया। अष्टछाप के सुप्रसिद्ध कवियों ने उनके उपदेशों को मधुर कविता में प्रतिबिंबित किया।

इसके उपरांत माध्व तथा निंबार्क संप्रदायों का भी जन-समाज पर प्रभाव पड़ा है। साधना-क्षेत्र में दो अन्य संप्रदाय भी उस समय विद्यमान थे। नाथों के योग-मार्ग से प्रभावित संत संप्रदाय चला, जिसमें प्रमुख व्यक्तित्त्व संत कबीरदास का है। मुसलमान कवियों का सूफीवाद हिंदुओं के विशिष्टाद्वैतवाद से बहुत भिन्न नहीं है। कुछ भावुक मुसलमान कवियों द्वारा सूफीवाद से रंगी हुई उत्तम रचनाएँ लिखी गईं।

संक्षेप में भक्ति-युग की चार प्रमुख काव्य-धाराएँ मिलती हैं–

1. सगुण भक्ति
2. रामाश्रयी शाखा
3. कृष्णाश्रयी शाखा
4. निर्गुण भक्ति
5. ज्ञानाश्रयी शाखा
6. प्रेमाश्रयी शाखा।

भक्ति काल

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल 1375 वि. से 1700 वि. तक माना जाता है। यह युग भक्तिकाल के नाम से प्रख्यात है। यह हिंदी साहित्य का श्रेष्ठ युग है। समस्त हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि और उत्तम रचनाएँ इस युग में प्राप्त होती हैं।

रामानुजाचार्य की परंपरा में रामानंद हुए। उनका व्यक्तित्त्व असाधारण था। वे उस समय के सबसे बड़े आचार्य थे। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में ऊंच-नीच का भेद तोड़ दिया। सभी जातियों के अधिकारी व्यक्तियों को आपने शिष्य बनाया। उस समय का सूत्र हो गया: जाति-पांति पूछेन हिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।।

इसके उपरांत माध्व तथा निंबार्क संप्रदायों का भी जन-समाज पर प्रभाव पड़ा है। साधना-क्षेत्र में दो अन्य संप्रदाय भी उस समय विद्यमान थे। नाथों के योग-मार्ग से प्रभावित संत संप्रदाय चला जिसमें प्रमुख व्यक्तित्त्व संत कबीरदास का है। मुसलमान कवियों का सूफीवाद हिंदुओं के विशिष्टाद्वैतवाद से बहुत भिन्न नहीं है। कुछ भावुक मुसलमान कवियों द्वारा सूफीवाद से रंगी हुई उत्तम रचनाएँ लिखी गईं। संक्षेप में भक्ति-युग की चार प्रमुख काव्य-धाराएँ मिलती हैं: ज्ञानाश्रयी शाखा, प्रेमाश्रयी शाखा, कृष्णाश्रयी शाखा और रामाश्रयी शाखा, प्रथम दोनों धाराएँ निर्गुण मत के अंतर्गत आती हैं, शेष दोनों सगुण मत के।

संत कवि

निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रमुख संत कवियों का परिचय कबीर, कमाल, रैदास या रविदास, धर्मदास, गुरू नानक, दादूदयाल, सुंदरदास, रज्जब, मलूकदास, अक्षर अनन्य, जंभनाथ, सिंगा जी, हरिदास निरंजनी

परिचय

तेरहवीं सदी तक धर्म के क्षेत्र में बड़ी अस्तव्यस्तता आ गई। जनता में सिद्धों और योगियों आदि द्वारा प्रचलित अंधविश्वास फैल रहे थे, शास्त्रज्ञान संपन्न वर्ग में भी रूढ़ियों और आडंबर की प्रधानता हो चली थी। मायावाद के प्रभाव से लोकविमुखता और निष्क्रियता के भाव समाज में पनपने लगे थे। ऐसे समय में भक्ति आंदोलन के रूप में ऐसा भारतव्यापी विशाल सांस्कृतिक आंदोलन उठा जिसने समाज में उत्कर्ष विधायक सामाजिक और वैयक्तिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की।

भक्ति आंदोलन का आरंभ दक्षिण के आलवार संतों द्वारा दसवीं सदी के लगभग हुआ। वहाँ शंकराचार्य के अद्वैतमत और मायावाद के विरोध में चार वैष्णव संप्रदाय खड़े हुए। इन चारों संप्रदायों ने उत्तर भारत में विष्णु के अवतारों का प्रचार प्रसार किया। इनमें से एक के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे, जिनकी शिष्यपरंपरा में आने वाले रामानंद ने (पंद्रहवीं सदी) उत्तर भारत में रामभक्ति का प्रचार किया। रामानंद के राम ब्रह्म के स्थानापन्न थे, जो राक्षसों का विनाश और अपनी लीला का विस्तार करने के लिए संसार में अवतीर्ण होते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानंद ने ऊँच-नीच का भेदभाव मिटाने पर विशेष बल दिया। राम के सगुण और निर्गुण दो रूपों को मानने वाले दो भक्तों-कबीर और तुलसी को

इन्होंने प्रभावित किया। विष्णुस्वामी के शुद्धाद्वैत मत का आधार लेकर इसी समय बल्लभाचार्य ने अपना पुष्टिमार्ग चलाया। बारहवीं से सोलहवीं सदी तक पूरे देश में पुराणसम्मत कृष्णचरित् के आधार पर कई संप्रदाय प्रतिष्ठित हुए, जिनमें सबसे ज्यादा प्रभावशाली वल्लभ का पुष्टिमार्ग था। उन्होंने शांकर मत के विरुद्ध ब्रह्म के सगुण रूप को ही वास्तविक कहा। उनके मत से यह संसार मिथ्या या माया का प्रसार नहीं है, बल्कि ब्रह्म का ही प्रसार है, अतः सत्य है। उन्होंने कृष्ण को ब्रह्म का अवतार माना और उसकी प्राप्ति के लिए भक्त का पूर्ण आत्मसमर्पण आवश्यक बतलाया। भगवान् के अनुग्रह या पुष्टि के द्वारा ही भक्ति सुलभ हो सकती है। इस संप्रदाय में उपासना के लिए गोपीजनवल्लभ, लीलापुरुषोत्तम कृष्ण का मधुर रूप स्वीकृत हुआ। इस प्रकार उत्तर भारत में विष्णु के राम और कृष्ण अवतारों प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति का स्रोत दक्षिण से आया तथापि उत्तर भारत की नई परिस्थितियों में उसने एक नया रूप भी ग्रहण किया। मुसलमानों के इस देश में बस जाने पर एक ऐसे भक्तिमार्ग की आवश्यकता थी, जो हिंदू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य हो। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के लिए भी अधिक मान्य मत वही हो सकता था जो उन्हीं के वर्ग के पुरुष द्वारा प्रवर्तित हो। महाराष्ट्र के संत नामदेव ने 14वीं शताब्दी में इसी प्रकार के भक्तिमत का सामान्य जनता में प्रचार किया जिसमें भगवान् के सगुण और निर्गुण दोनों रूप गृहीत थे। कबीर के संतमत के ये पूर्वपुरुष हैं। दूसरी ओर सूफी कवियों ने हिंदुओं की लोककथाओं का आधार लेकर ईश्वर के प्रेममय रूप का प्रचार किया।

इस प्रकार इन विभिन्न मतों का आधार लेकर हिंदी में निर्गुण और सगुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो शाखाएँ साथ साथ चलीं। निर्गुणमत के दो उपविभाग हुए – ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी। पहले के प्रतिनिधि कबीर और दूसरे के जायसी हैं। सगुणमत भी दो उपधाराओं में प्रवाहित हुआ – रामभक्ति और कृष्णभक्ति। पहले के प्रतिनिधि तुलसी हैं और दूसरे के सूरदास।

भक्तिकाव्य की इन विभिन्न प्रणलियों की अपनी अलग अलग विशेषताएँ हैं पर कुछ आधारभूत बातों का सन्निवेश सब में है। प्रेम की सामान्य भूमिका सभी ने स्वीकार की। भक्तिभाव के स्तर पर मनुष्यमात्र की समानता सबको मान्य है। प्रेम और करुणा से युक्त अवतार की कल्पना तो सगुण भक्तों का आधार ही है पर निर्गुणोपासक कबीर भी अने राम को प्रिय, पिता और स्वामी आदि के रूप में स्मरण करते हैं। ज्ञान की तुलना में सभी भक्तों ने भक्तिभाव

को गौरव दिया है। सभी भक्त कवियों ने लोकभाषा का माध्यम स्वीकार किया है।

ज्ञानश्रयी शाखा के प्रमुख कवि कबीर पर तात्कालिक विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियों और दार्शनिक मतों का सम्मिलित प्रभाव है। उनकी रचनाओं में धर्मसुधारक और समाजसुधारक का रूप विशेष प्रखर है। उन्होंने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। बाह्याडंबर, रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर उन्होंने तीव्र कशाघात किया। मनुष्य की क्षमता का उद्घोष कर उन्होंने निम्नश्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव जगाया। इस शाखा के अन्य कवि रैदास, दादू हैं।

अपनी व्यक्तिगत धार्मिक अनुभूति और सामाजिक आलोचना द्वारा कबीर आदि संतों ने जनता को विचार के स्तर पर प्रभावित किया था। सूफी संतों ने अपने प्रेमाख्यानों द्वारा लोकमानस को भावना के स्तर पर प्रभावित करने का प्रयत्न किया। ज्ञानमार्गी संत कवियों की वाणी मुक्तकबद्ध है, प्रेममार्गी कवियों की प्रेमभावना लोकप्रचलित आख्यानों का आधार लेकर प्रबंधकाव्य के रूप में ख्पायित हुई है। सूफी ईश्वर को अनंत प्रेम और सौंदर्य का भंडार मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर को जीव प्रेम के मार्ग से ही उपलब्ध कर सकता है। साधाना के मार्ग में आनेवाली बाधाओं को वह गुरु या पीर की सहायता से साहसपूर्वक पार करके अपने परमप्रिय का साक्षात्कार करता है। सूफियों ने चाहे अपने मत के प्रचार के लिए अपने कथाकाव्य की रचना की हो पर साहित्यिक दृष्टि से उनका मूल्य इसलिए है कि उसमें प्रेम और उससे प्रेरित अन्य संवेगों की व्यंजना सहजबोध्य लौकिक भूमि पर हुई है। उनके द्वारा व्यंजित प्रेम ईश्वरोन्मुख है पर सामान्यत: यह प्रेम लौकिक भूमि पर ही संक्रमण करता है। परमप्रिय के सौंदर्य, प्रेमक्रीड़ा और प्रेमी के विरहोद्वेग आदि का वर्णन उन्होंने इतनी तन्मयता से किया है और उनके काव्य का मानवीय आधार इतना पुष्ट है कि आध्यात्मिक प्रतीकों और रूपकों के बावजूद उनकी रचनाएँ प्रेमसमर्पित कथाकाव्य की श्रेष्ठ कृतियाँ बन गई हैं। उनके काव्य का पूरा वातावरण लोकजीवन का और गार्हस्थिक है। प्रेमाख्यानकों की शैली फारसी के मसनवी काव्य जैसी है।

इस धारा के सर्वप्रमुख कवि जायसी हैं, जिनका 'पदमावत' अपनी मार्मिक प्रेमव्यंजना, कथारस और सहज कलाविन्यास के कारण विशेष प्रशंसित हुआ है। इनकी अन्य रचनाओं में 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' आदि हैं, जिनमें सूफी संप्रदायसंगत बातें हैं1 इस धारा के अन्य कवि हैं कुतबन, मंझन, उसमान, शेख, नबी और नूरमुहम्मद आदि।

ज्ञानमार्गी शाखा के कवियों में विचार की प्रधानता है तो सूफियों की रचनाओं में प्रेम का एकांतिक रूप व्यक्त हुआ है। सगुण धारा के कवियों ने विचारात्मक शुष्कता और प्रेम की एकांगिता दूरकर जीवन के सहज उल्लासमय और व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की। कृष्ण भक्तिशाखा के कवियों ने आनंदस्वरूप लीलापुरुषोत्तम कृष्ण के मधुर रूप की प्रतिष्ठा कर जीवन के प्रति गहन राग को स्फूर्त किया। इन कवियों में सूरसागर के रचयिता महाकवि सूरदास श्रेष्ठतम हैं, जिन्होंने कृष्ण के मधुर व्यक्तित्त्व का अनेक मार्मिक रूपों में साक्षात्कार किया। ये प्रेम और सौंदर्य के निसर्गसिद्ध गायक हैं। कृष्ण के बालरूप की जैसी विमोहक, सजीव और बहुविध कल्पना इन्होंने की है वह अपना सानी नहीं रखती। कृष्ण और गोपियों के स्वच्छंद प्रेमप्रसंगों द्वारा सूर ने मानवीय राग का बड़ा ही निश्छल और सहज रूप उद्घाटित किया है। यह प्रेम अपने सहज परिवेश में सहयोगी भाववृत्तियों से संपृक्त होकर विशेष अर्थवान् हो गया है। कृष्ण के प्रति उनका संबंध मुख्यत: सख्यभाव का है। आराध्य के प्रति उनका सहज समर्पण भावना की गहरी से गहरी भूमिकाओं को स्पर्श करने वाला है। सूरदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे। वल्लभ के पुत्र बिट्ठलनाथ ने कृष्णलीलागान के लिए अष्टछाप के नाम से आठ कवियों का निर्वाचन किया था। सूरदास इस मंडल के सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। अन्य विशिष्ट कवि नंददास और परमानंददास हैं। नंददास की कलाचेतना अपेक्षाकृत विशेष मुखर है।

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का व्यापक प्रचार हुआ और वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के अतिरिक्त अन्य भी कई संप्रदाय स्थापित हुए, जिन्होंने कृष्णकाव्य को प्रभावित किया। हितहरिवंश (राधावल्लभी संप्र.), हरिदास (टट्टी संप्र.), गदाधर भट्ट और सूरदास मदनमोहन (गौड़ीय संप्र.) आदि अनेक कवियों ने विभिन्न मतों के अनुसार कृष्णप्रेम की मार्मिक कल्पनाएँ कीं। मीरा की भक्ति दांपत्यभाव की थी, जो अपने स्वत:स्फूर्त कोमल और करुण प्रेमसंगीत से आंदोतिल करती हैं। नरोत्तमदास, रसखान, सेनापति आदि इस धारा के अन्य अनेक प्रतिभाशाली कवि हुए, जिन्होंने हिंदी काव्य को समृद्ध किया। यह सारा कृष्णकाव्य मुक्तक या कथाश्रित मुक्तक है। संगीतात्मकता इसका एक विशिष्ट गुण है।

कृष्णकाव्य ने भगवान् के मधुर रूप का उद्घाटन किया पर उसमें जीवन की अनेकरूपता नहीं थी, जीवन की विविधता और विस्तार की मार्मिक योजना रामकाव्य में हुई। कृष्ण भक्तिकाव्य में जीवन के माधुर्य पक्ष का स्फूर्तिप्रद संगीत

था, रामकाव्य में जीवन का नीतिपक्ष और समाजबोध अधिक मुखरित हुआ। एक ने स्वच्छंद रागतत्त्व को महत्त्व दिया तो दूसरे ने मर्यादित लोक चेतना पर विशेष बल दिया। एक ने भगवान की लोकरंजनकारी सौंदर्यप्रतिमा का संगठन किया तो दूसरे ने उसके शक्ति, शील और सौंदर्यमय लोकमंगलकारी रूप को प्रकाशित किया। रामकाव्य का सर्वोत्कृष्ट वैभव 'रामचरितमानस' के रचयिता तुलसीदास के काव्य में प्रकट हुआ, जो विद्याविद् ग्रियर्सन की दृष्टि में बुद्धदेव के बाद के सबसे बड़े जननायक थे। पर काव्य की दृष्टि से तुलसी का महत्त्व भगवान् के एक ऐसे रूप की परिकल्पना में है जो मानवीय सामर्थ्य और औदात्य की उच्चतम भूमि पर अधिष्ठित है। तुलसी के काव्य की एक बड़ी विशेषता उनकी बहुमुखी समन्वय भावना है जो धर्म, समाज और साहित्य सभी क्षेत्रों में सक्रिय है। उनका काव्य लोकोन्मुख है। उसमें जीवन की विस्तीर्णता के साथ गहराई भी है। उनका महाकाव्य रामचरितमानस राम के संपूर्ण जीवन के माध्यम से व्यक्ति और लोकजीवन के विभिन्न पक्षों का उद्घाटन करता है। उसमें भगवान् राम के लोकमंगलकारी रूप की प्रतिष्ठा है। उनका साहित्य सामाजिक और वैयक्तिक कर्त्तव्य के उच्च आदर्शों में आस्था दृढ़ करने वाला है। तुलसी की 'विनयपत्रिका' में आराध्य के प्रति, जो कवि के आदर्शों का सजीव प्रति:प है, उनका निरंतर और निश्छल समर्पणभाव, काव्यात्मक आत्माभिव्यक्ति का उत्कृष्ट दृष्टांत है। काव्याभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों पर उनका समान अधिकार है। अपने समय में प्रचलित सभी काव्यशैलियों का उन्होंने सफल प्रयोग किया। प्रबंध और मुक्तक की साहित्यिक शैलियों के अतिरिक्त लोकप्रचलित अवधी और ब्रजभाषा दोनों के व्यवहार में वे समान रूप से समर्थ हैं। तुलसी के अतिरिक्त रामकाव्य के अन्य रचयिताओं में अग्रदास, नाभादास, प्राणचंद चौहान और हृदयराम आदि उल्लेख्य हैं।

आज की दृष्टि से इस संपूर्ण भक्तिकाव्य का महत्त्व उसक धार्मिकता से अधिक लोकजीवनगत मानवीय अनुभूतियों और भावों के कारण है। इसी विचार से भक्तिकाल को हिंदी काव्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

कृष्णाश्रयी शाखा

इस गुण की इस शाखा का सर्वाधिक प्रचार हुआ है। विभिन्न संप्रदायों के अंतर्गत उच्च कोटि के कवि हुए हैं। इनमें वल्लभाचार्य के पुष्टि-संप्रदाय के अंतर्गत अष्टछाप के सूरदास कुम्भनदास रसखान जैसे महान कवि हुए हैं।

वात्सल्य एवं शृंगार के सर्वोत्तम भक्त-कवि सूरदास के पदों का परवर्ती हिंदी साहित्य पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। इस शाखा के कवियों ने प्राय: मुक्तक काव्य ही लिखा है। भगवान श्रीकृष्ण का बाल एवं किशोर रूप ही इन कवियों को आकर्षित कर पाया है इसलिए इनके काव्यों में श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का ही प्राधान्य रहा है। प्राय: सब कवि गायक थे, इसलिए कविता और संगीत का अद्‌भुत सुंदर समन्वय इन कवियों की रचनाओं में मिलता है। गीति-काव्य की जो परंपरा जयदेव और विद्यापति द्वारा पल्लवित हुई थी। उसका चरम-विकास इन कवियों द्वारा हुआ है। नर-नारी की साधारण प्रेम-लीलाओं को राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेमलीला द्वारा व्यंजित करके उन्होंने जन-मानस को रसाप्लावित कर दिया। आनंद की एक लहर देश भर में दौड गई। इस शाखा के प्रमुख कवि थे सूरदास, नंददास, मीरा बाई, हितहरिवंश, हरिदास, रसखान, नरोत्तमदास वगैरह। रहीम भी इसी समय हुए।

कृष्ण-काव्य-धारा की विशेषताएँ

कृष्ण-काव्य-धारा के मुख्य प्रवर्तक हैं- श्री वल्लभाचार्य। उन्होंने निम्बार्क, मध्व और विष्णुस्वामी के आदर्शों को सामने रखकर श्रीकृष्ण का प्रचार किया। श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रचारित पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण-भक्ति-साहित्य की रचना की। वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग का प्रचार-प्रसार किया। जिसका अर्थ है- भगवान श्रीकृष्ण की भक्ति से उनकी कृपा और अनुग्रह की प्राप्ति करना।

कृष्ण-काव्य-धारा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

1. श्रीकृष्ण-साहित्य का मुख्य विषय कृष्ण की लीलाओं का गान करना है। वल्लभाचार्य के सिद्धांतो से प्रभावित होकर इस शाखा के कवियों ने कृष्ण की बाल-लीलाओं का ही अधिक वर्ण किया है। सूरदास इसमें प्रमुख है।
2. इस शाखा में वात्सल्य एवं माधुर्य भाव का ही प्राधान्य है। वात्सल्य भाव के अंतर्गत कृष्ण की बाल-लीलाओं, चेष्टाओं तथा माँ यशोदा के हृदय की झाँकी मिलती है। माधुर्य भाव के अंतर्गत गोपी-लीला मुख्य है। सूरदास के बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- वात्सल्य के क्षेत्र में जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, इतना किसी ओर कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का तो वे कोना-कोना झाँक आये।

3. इस धारा के कवियों ने भगवान कृष्ण की उपासना माधुर्य एवं सख्य भाव से की है। इसीलिए इसमें मर्यादा का चित्रण नहीं मिलता।
4. श्रीकृष्ण काव्य में मुक्त रचनाएँ ही अधिक पाई जाती हैं। काव्य-रचना के अधिकांशत: उन्होंने पद ही चुने हैं।
5. इस काव्य में गीति-काव्य की मनोहारिणी छटा है। इसका कारण है- कृष्ण-का्य की संगीतात्मक्ता। कृष्ण-काव्य में राग-रागिनियों का सुंदर उपयोग हुआ है
6. श्रीकृष्ण काव्य में विषय की एकता होने के कारण भावों में अधिकतर एकरूपता पाई जाती है।
7. श्रीकृष्ण को भगवान मानकर पदों की विनयावली द्वारा पूजा जाने के कारण इसमें भावुकता की तीव्रता अधिक पाई जाती है।
8. इस काव्य-धारा में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों का प्रयोग किया गया है।
9. कृष्ण-काव्य-धारा की भाषा ब्रज है। ब्रजभाषा की कोमलकांत पदावली का प्रयोग इसमें हुआ है। यह मधुर और सरस है।
10. इस काव्य में रसमयी उक्तियों के लिए तथा साकार ईश्वर के प्रतिपादन के लिए भ्रमरगीत लिखने की परंपरा प्राप्त होती है।
11. श्रीकृष्ण-काव्य स्वतंत्र प्रेम-प्रधान काव्य है। इन्होंने प्रेमलक्षणा भक्ति को अपनाया है। इसलिए इसमें मर्यादा की अवहेलना की गई है।
12. कृष्ण-काव्य व्यंग्यात्मक है। इसमें उपालंभ की प्रधानता है। सूर का भ्रमरगीत इसका सुंदर उदाहरण है।
13. श्रीकृष्ण काव्य में लोक-जीवन के प्रति उपेक्षा की भावना पाई जाती है। इसका मुख्य कारण है- कृष्ण के लोकरंजक रूप की प्रधानता।
14. श्री कृष्ण-काव्य-धारा में ज्ञान और कर्म के स्थान पर भक्ति को प्रधानता दी गई है। इसमें आत्म-चिंतन की अपेक्षा आत्म-समर्पण का महत्त्व है।
15. प्रकृति-वर्णन भी इस धारा में मिलता है। ग्राम्य-प्रकृति के सुंदर चित्र इसमें हैं।

रामाश्रयी शाखा

कृष्णभक्ति शाखा के अंतर्गत लीला-पुरुषोत्तम का गान रहा तो रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास ने मर्यादा-पुरुषोत्तम का ध्यान करना चाहा।

इसलिए आपने रामचंद्र को आराध्य माना और श्रामचरित मानस' द्वारा राम-कथा को घर-घर में पहुंचा दिया। तुलसीदास हिंदी साहित्य के श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। समन्वयवादी तुलसीदास में लोकनायक के सब गुण मौजूद थे। आपकी पावन और मधुर वाणी ने जनता के तमाम स्तरों को राममय कर दिया। उस समय प्रचलित तमाम भाषाओं और छंदों में आपने रामकथा लिख दी। जन-समाज के उत्थान में आपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस शाखा में अन्य कोई कवि तुलसीदास के सम। न उल्लेखनीय नहीं है तथापि अग्रदास, नाभादास तथा प्राण चन्द चौहान भी इस श्रेणी में आते हैं।

रामभक्ति शाखा की प्रवृत्तियाँ रामकाव्य धारा का प्रवर्तन वैष्णव संप्रदाय के स्वामी रामानंद से स्वीकार किया जा सकता है। यद्यपि रामकाव्य का आधार संस्कृत साहित्य में उपलब्ध राम-काव्य और नाटक रहें हैं। इस काव्य धारा के अवलोकन से इसकी निम्न विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं :-

राम का स्वरूप – रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में श्री रामानंद के अनुयायी सभी रामभक्त कवि विष्णु के अवतार दशरथ-पुत्र राम के उपासक हैं। अवतारवाद में विश्वास है। उनके राम परब्रह्म स्वरूप हैं। उनमें शील, शक्ति और सौंदर्य का समन्वय है। सौंदर्य में वे त्रिभुवन को लजावन हारे हैं। शक्ति से वे दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा करते हैं तथा गुणों से संसार को आचार की शिक्षा देते हैं। वे मर्यादापुरुषोत्तम और लोकरक्षक हैं। भक्ति का स्वरूप : इनकी भक्ति में सेवक-सेव्य भाव है। वे दास्य भाव से राम की आराधना करते हैं। वे स्वयं को क्षुद्रातिक्षुद्र तथा भगवान को महान बतलाते हैं। तुलसीदास ने लिखा है : सेवक-सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि। राम-काव्य में ज्ञान, कर्म और भक्ति की पृथक-पृथक महत्ता स्पष्ट करते हुए भक्ति को उत्कृष्ट बताया गया है। तुलसी दास ने भक्ति और ज्ञान में अभेद माना है : भगतहिं ज्ञानहिं नहिं कुछ भेदा। यद्यपि वे ज्ञान को कठिन मार्ग तथा भक्ति को सरल और सहज मार्ग स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त तुलसी की भक्ति का रूप वैधी रहा है ,वह वेदशास्त्र की मर्यादा के अनुकूल है। लोक-मंगल की भावना : रामभक्ति साहित्य में राम के लोक-रक्षक रूप की स्थापना हुई है। तुलसी के राम मर्यादापुरुषोत्तम तथा आदर्शों के संस्थापक हैं। इस काव्य धारा में आदर्श पात्रों की सर्जना हुई है। राम आदर्श पुत्र और आदर्श राजा हैं, सीता आदर्श पत्नी हैं तो भरत और लक्ष्मण आदर्श भाई हैं। कौशल्या आदर्श माता है, हनुमान आदर्श सेवक हैं। इस प्रकार रामचरितमानस में तुलसी ने आदर्श गृहस्थ, आदर्श समाज और आदर्श

राज्य की कल्पना की है। आदर्श की प्रतिष्ठा से ही तुलसी लोकनायक कवि बन गए हैं और उनका काव्य लोकमंगल की भावना से ओतप्रोत है। समन्वय भावना : तुलसी का मानस समन्वय की विराट चेष्टा है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ्य और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय रामचरितमानस में शुरु से आखिर तक समन्वय का काव्य है। हम कह सकते हैं कि तुलसी आदि रामभक्त कवियों ने समाज, भक्ति और साहित्य सभी क्षेत्रों में समन्वयवाद का प्रचार किया है।

राम भक्त कवियों की भारतीय संस्कृति में पूर्ण आस्था रही। पौराणिकता इनका आधार है और वर्णाश्रम व्यवस्था के पोषक हैं। लोकहित के साथ-साथ इनकी भक्ति स्वांतः सुखाय थी। सामाजिक तत्त्व की प्रधानता रही। काव्य शैलियाँ : रामकाव्य में काव्य की प्रायः सभी शैलियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। तुलसीदास ने अपने युग की प्रायः सभी काव्य-शैलियों को अपनाया है। वीरगाथाकाल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूर की गीतिपद्धति, गंग आदि भाट कवियों की कवित्त-सवैया पद्धति, जायसी की दोहा पद्धति, सभी का सफलतापूर्वक प्रयोग इनकी रचनाओं में मिलता है। रामायण महानाटक (प्राणचंद चौहान) और हनुमननाटक (हृदयराम) में संवाद पद्धति और केशव की रामचंद्रिका में रीति-पद्धति का अनुसरण है। रस : रामकाव्य में नव रसों का प्रयोग है। राम का जीवन इतना विस्तृत व विविध है कि उसमें प्रायः सभी रसों की अभिव्यक्ति सहज ही हो जाती है। तुलसी के मानस एवं केशव की रामचंद्रिका में सभी रस देखे जा सकते हैं। रामभक्ति के रसिक संप्रदाय के काव्य में शृंगार रस को प्रमुखता मिली है। मुख्य रस यद्यपि शांत रस ही रहा। भाषा : रामकाव्य में मुख्यतः अवधी भाषा प्रयुक्त हुई है। किंतु ब्रजभाषा भी इस काव्य का शृंगार बनी है। इन दोनों भाषाओं के प्रवाह में अन्य भाषाओं के भी शब्द आ गए हैं। बुंदेली, भोजपुरी, फारसी तथा अरबी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। रामचरितमानस की अवधी प्रेमकाव्य की अवधी भाषा की अपेक्षा अधिक साहित्यिक है। छंद : रामकाव्य की रचना अधिकतर दोहा-चौपाई में हुई है। दोहा चौपाई प्रबंधात्मक काव्यों के लिए उत्कृष्ट छंद हैं। इसके अतिरिक्त कुण्डलिया, छप्पय, कवित्त , सोरठा , तोमर ,त्रिभंगी आदि छंदों का प्रयोग हुआ है।

अलंकार – रामभक्त कवि विद्वान पंडित हैं। इन्होंने अलंकारों की उपेक्षा नहीं की। तुलसी के काव्य में अलंकारों का सहज और स्वाभाविक प्रयोग मिलता है। उत्प्रेक्षा, रूपक और उपमा का प्रयोग मानस में अधिक है।

ज्ञानाश्रयी मार्गी

इस शाखा के भक्त-कवि निर्गुणवादी थे और राम की उपासना करते थे। वे गुरु को बहुत सम्मान देते थे तथा जाति-पाँति के भेदों को अस्वीकार करते थे। वैयक्तिक साधना पर वे बल देते थे। मिथ्या आडंबरों और रूढियों का वे विरोध करते थे। लगभग सब संत अपढ़ थे परंतु अनुभव की दृष्टि से समृध्द थे। प्राय: सब सत्संगी थे और उनकी भाषा में कई बोलियों का मिश्रण पाया जाता है इसलिए इस भाषा को 'सधुक्कड़ी' कहा गया है। साधारण जनता पर इन संतों की वाणी का जबरदस्त प्रभाव पड़ा है। इन संतों में प्रमुख कबीरदास थे। अन्य मुख्य संत-कवियों के नाम हैं-नानक, रैदास, दादूदयाल, सुंदरदास तथा मलूकदास।

प्रोफेसर महावीर सरन जैन ने निर्गुण भक्ति के स्वरूप के बारे में प्रश्न उठाए हैं तथा प्रतिपादित किया है कि संतों की निर्गुण भक्ति का अपना स्वरूप है, जिसको वेदांत दर्शन के सन्दर्भ में व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। उनके शब्द हैं–

भक्तिया उपासना के लिए गुणों की सत्ता आवश्यक है। ब्रह्म के सगुण स्वरूप को आधार बनाकर तो भक्तिउपासना की जा सकती है किन्तु जो निर्गुण एवं निराकार है उसकी भक्ति किस प्रकार सम्भव है ? निर्गुण के गुणों का आख्यान किस प्रकार किया जा सकता है ? गुणातीत में गुणों का प्रवाह किस प्रकार माना जा सकता है ? जो निरालम्ब है, उसको आलम्बन किस प्रकार बनाया जा सकता है। जो अरूप है, उसके रूप की कल्पना किस प्रकार सम्भव है। जो रागातीत है, उसके प्रति रागों का अर्पण किस प्रकार किया जा सकता है? रूपातीत से मिलने की उत्कंठा का क्या औचित्य हो सकता है। जो नाम से भी अतीत है, उसके नाम का जप किस प्रकार किया जा सकता है।

शास्त्रीय दृष्टि से उपर्युक्त सभी प्रश्न 'निर्गुण-भक्ति' के स्वरूप को ताल ठोंककर चुनौती देते हुए प्रतीत होते हैं। कबीर आदि संतों की दार्शनिक विवेचना करते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह मान्यता स्थापित की है कि उन्होंने निराकार ईश्वर के लिए भारतीय वेदांत का पल्ला पकड़ा है। इस सम्बन्ध में जब

हम शांकर अद्वैतवाद एवं संतों की निर्गुण भक्ति के तुलनात्मक पक्षों पर विचार करते हैं तो उपर्युक्त मान्यता की सीमायें स्पष्ट हो जाती हैं–

(क) शांकर अद्वैतवाद में भक्ति को साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, किन्तु उसे साध्य नहीं माना गया है। संतों ने (सूफियों ने भी) भक्ति को साध्य माना है।

(ख) शांकर अद्वैतवाद में मुक्ति के प्रत्यक्ष साधन के रूप में 'ज्ञान' को ग्रहण किया गया है। वहाँ मुक्ति के लिए भक्ति का ग्रहण अपरिहार्य नहीं है। वहाँ भक्ति के महत्व की सीमा प्रतिपादित है। वहाँ भक्ति का महत्व केवल इस दृष्टि से है कि वह अन्तःकरण के मालिन्य का प्रक्षालन करने में समर्थ सिद्ध होती है। भक्ति आत्म-साक्षात्कार नहीं करा सकती, वह केवल आत्म साक्षात्कार के लिए उचित भूमिका का निर्माण कर सकती है। संतों ने अपना चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार या भगवद्-दर्शन माना है तथा भक्ति के ग्रहण को अपरिहार्य रूप में स्वीकार किया है क्योंकि संतों की दृष्टि में भक्ति ही आत्म-साक्षात्कार या भगवद्दर्शन कराती है।

प्रेमाश्रयी शाखा

मुसलमान सूफी कवियों की इस समय की काव्य-धारा को प्रेममार्गी माना गया है क्योंकि प्रेम से ईश्वर प्राप्त होते हैं ऐसी उनकी मान्यता थी। ईश्वर की तरह प्रेम भी सर्वव्यापी तत्त्व है और ईश्वर का जीव के साथ प्रेम का ही संबंध हो सकता है, यह उनकी रचनाओं का मूल तत्त्व है। उन्होंने प्रेमगाथाएँ लिखी हैं। ये प्रेमगाथाएँ फारसी की मसनवियों की शैली पर रची गई हैं। इन गाथाओं की भाषा अवधी है और इनमें दोहा-चौपाई छंदों का प्रयोग हुआ है। मुसलमान होते हुए भी उन्होंने हिंदू-जीवन से संबंधित कथाएँ लिखी हैं। खंडन-मंडन में न पड़कर इन फकीर कवियों ने भौतिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम का वर्णन किया है। ईश्वर को माशूक माना गया है और प्रायः प्रत्येक गाथा में कोई राजकुमार किसी राजकुमारी को प्राप्त करने के लिए नानाविध कष्टों का सामना करता है, विविध कसौटियों से पार होता है और तब जाकर माशूक को प्राप्त कर सकता है। इन कवियों में मलिक मुहम्मद जायसी प्रमुख हैं। आपका 'पद्मावत' महाकाव्य इस शैली की सर्वश्रेष्ठ रचना है। अन्य कवियों में प्रमुख हैं – मंझन, कुतुबन और उसमान।

9

आदिकाल

हिन्दी साहित्य के इतिहास में लगभग 8वीं शताब्दी से लेकर 14वीं शताब्दी के मध्य तक के काल को आदिकाल कहा जाता है। इस युग को यह नाम डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से मिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'वीरगाथा काल' तथा विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'वीरकाल' नाम दिया है। इस काल की समय के आधार पर साहित्य का इतिहास लिखने वाले मिश्र बंधुओं ने इसका नाम प्रारंभिक काल किया और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बीजवपन काल। डॉ. रामकुमार वर्मा ने इस काल की प्रमुख प्रवृत्तियों के आधार पर इसको चारण-काल कहा है और राहुल संकृत्यायन ने सिद्ध-सामन्त काल।

इस समय का साहित्य मुख्यत: चार रूपों में मिलता है–

1. सिद्ध-साहित्य तथा नाथ-साहित्य,
2. जैन साहित्य,
3. चारणी-साहित्य,
4. प्रकीर्णक साहित्य।

सिद्ध और नाथ साहित्य

यह साहित्य उस समय लिखा गया जब हिंदी अपभ्रंश से आधुनिक हिंदी की ओर विकसित हो रही थी। बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा के अनुयायी उस समय सिद्ध कहलाते थे। इनकी संख्या चौरासी मानी गई है। सरहपा (सरोजपाद

अथवा सरोजभद्र) प्रथम सिद्ध माने गए हैं। इसके अतिरिक्त शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा आदि सिद्ध सहित्य के प्रमुख् कवि है। ये कवि अपनी वाणी का प्रचार जन भाषा में करते थे। उनकी सहजिया प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति को केंद्र में रखकर निर्धारित हुई थी। इस प्रवृत्ति ने एक प्रकार की स्वच्छंदता को जन्म दिया जिसकी प्रतिक्रिया में नाथ संप्रदाय शुरू हुआ। नाथ-साधु हठयोग पर विशेष बल देते थे। वे योग मार्गी थे। वे निर्गुण निराकार ईश्वर को मानते थे। तथाकथित नीची जातियों के लोगों में से कई पहुंचे हुए सिद्ध एवं नाथ हुए हैं। नाथ-संप्रदाय में गोरखनाथ सबसे महत्त्वपूर्ण थे। आपकी कई रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इसके अतिरिक्त चौरन्गीनाथ, गोपीचन्द, भरथरी आदि नाथ पन्थ के प्रमुख कवि है। इस समय की रचनाएँ साधारणत: दोहों अथवा पदों में प्राप्त होती हैं, कभी-कभी चौपाई का भी प्रयोग मिलता है। परवर्ती संत-साहित्य पर सिद्धों और विशेषकर नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है।

जैन साहित्य

अपभ्रंश की जैन-साहित्य परंपरा हिंदी में भी विकसित हुई है।जैन कवियो ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतू जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता हैं।

जैन कवियो ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार हेतू जो साहित्य लिखा वह जैन साहित्य कहलाता हैं। बड़े-बड़े प्रबंधकाव्यों के उपरांत लघु खंड-काव्य तथा मुक्तक रचनाएँ भी जैन-साहित्य के अंतर्गत आती हैं। स्वयंभू का पउम-चरिउ वास्तव में राम-कथा ही है। स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल आदि उस समय के प्रख्यात कवि हैं। गुजरात के प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचंद्र भी लगभग इसी समय के हैं। जैनों का संबंध राजस्थान तथा गुजरात से विशेष रहा है, इसीलिए अनेक जैन कवियों की भाषा प्राचीन राजस्थानी रही है, जिससे अर्वाचीन राजस्थानी एवं गुजराती का विकास हुआ है। सूरियों के लिखे राम-ग्रंथ भी इसी भाषा में उपलब्ध हैं।

रासो साहित्य

इस काल में रासो साहित्य की तीन प्रवृतियाँ देखने को मिलती है–

वीरगाथात्मक – पृथ्वीराज रासो ,हम्मीर रासो,परमाल रासो

धार्मिकता – भारतेश्वर बाहुबली रास

श्रृंगारिकता – संदेश रासक

चारणी-साहित्य

इसके अंतर्गत चारण के उपरांत ब्रह्मभट्ट और अन्य बंदीजन कवि भी आते हैं। सौराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमी राजस्थान में चारणों का, तथा ब्रज-प्रदेश, दिल्ली तथा पूर्वी राजस्थान में भट्टों का प्राधान्य रहा था। चारणों की भाषा साधारणतः राजस्थानी रही है और भट्टों की ब्रज। इन भाषाओं को डिंगल और पिंगल नाम भी मिले हैं। ये कवि प्रायः राजाओं के दरबारों में रहकर उनकी प्रशस्ति किया करते थे। अपने आश्रयदाता राजाओं की अतिरंजित प्रशंसा करते थे। शृंगार और वीर उनके मुख्य रस थे। इस समय की प्रख्यात रचनाओं में चंदबरदाई कृत पृथ्वीराज रासो, दलपति कृत खुमाण-रासो, नरपति-नाल्ह कृत बीसलदेव रासो, जगनिक कृत आल्ह खंड आदि मुख्य हैं। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पृथ्वीराज रासो है। इन सब ग्रंथों के बारे में आज यह सिद्ध हुआ है कि उनके कई अंश क्षेपक हैं।

प्रकीर्णक साहित्य

खड़ी बोली के आदि-कवि अमीर खुसरो इसी समय हुए है। खुसरो की पहेलियां और मुकरियां प्रख्यात हैं। मैथिल-कोकिल विद्यापति भी इसी समय के अंतर्गत हुए हैं। विद्यापति के मधुर पदों के कारण इन्हें 'अभिनव जयदेव' भी कहा जाता है। मैथिली और अवहट्ट में भी इनकी रचनाएँ मिलती हैं। इनकी पदावली का मुख्य रसशृंगार माना गया है। अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक' भी इसी समय की एक सुंदर रचना है। इस छोटे से प्रेम-संदेश-काव्य की भाषा अपभ्रंश से अत्यधिक प्रभावित होने से कुछ विद्वान इसको हिंदी की रचना न मानकर अपभ्रंश की रचना मानते हैं।

आश्रयदाताओं की अतिरंजित प्रशंसाएं, युद्धों का सुन्दर वर्णन, शृंगार-मिश्रित वीररस का आलेखन वगैरह इस साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इस्लाम का भारत में प्रवेश हो चुका था। देशी रजवाड़े परस्पर कलह में व्यस्त थे। सब एक साथ मिलकर मुसलमानों के साथ लड़ने के लिए तैयार नहीं थे। परिणाम यह हुआ कि अलग-अलग सबको हराकर मुसलमान यहीं स्थिर हो गए। दिल्ली की गद्दी उन्होंने प्राप्त कर ली और क्रमशः उनके राज्य का विस्तार बढ़ने लगा। तत्कालीन कविता पर इस स्थिति का प्रभाव देखा जा सकता है।

हिन्दी का सर्वप्रथम कवि

हिन्दी का प्रथम कवि कौन है, इस पर मतैक्य नहीं है। विभिन्न इतिहासकारों के अनुसार हिंदी का पहला कवि निम्नलिखित हैं–

1. रामकुमार वर्मा के अनुसार –स्वयंभू (693 ई.)
2. राहुल सांकृत्यायन के अनुसार –सरहपा (769 ई.)
3. शिवसिंह सेंगर के अनुसार –पुष्पदन्त या पुण्ड (10वीं शताब्दी)
4. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के अनुसार –राजा मुंज (993 ई.)
5. रामचंद्र शुक्ल के अनुसार –राजा मुंज व भोज (993 ई.)
6. गणपति चंद्र गुप्त के अनुसार –शालिभद्र सूरि (1184 ई.)
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार–अब्दुल रहमान (13वीं शताब्दी)
8. बच्चन सिंह के अनुसार – विद्यापति (15वीं शताब्दी)

हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम काल का नामकरण विद्वानों ने इस प्रकार किया है–

1. डॉ. ग्रियर्सन – चारणकाल,
2. मिश्रबंधु – आरम्भिक काल
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल– वीरगाथा काल,
4. राहुल संकृत्यायन – सिद्ध सामंत युग,
5. महावीर प्रसाद द्विवेदी – बीजवपन काल,
6. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र – वीरकाल,
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी – आदिकाल,
8. रामकुमार वर्मा – चारण काल ,

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का मत

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस काल का नाम वीरगाथा काल रखा है। इस नामकरण का आधार स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं– आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़–सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नहीं होता–धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती है। इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढाइयों का आरंभ होता है तब से हम हिंदी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बंधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबंध परंपरा रासो के नाम से पायी जाती है,

जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने वीरगाथा काल कहा है। इसके संदर्भ में वे तीन कारण बताते हैं-

1. इस काल की प्रधान प्रवृत्ति वीरता की थी अर्थात् इस काल में वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रधानता रही है।
2. अन्य जो ग्रंथ प्राप्त होते हैं वे जैन धर्म से संबंध रखते हैं, इसलिए नाम मात्र हैं और
3. इस काल के फुटकर दोहे प्राप्त होते हैं, जो साहित्यिक हैं तथा विभिन्न विषयों से संबंधित हैं, किन्तु उसके आधार पर भी इस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं होती है। शुक्ल जी वे इस काल की बारह रचनाओं का उल्लेख किया है-
    1. विजयपाल रासो (नल्लसिंह कृत-सं.1355),
    2. हम्मीर रासो (शांगधर कृत-सं.1357),
    3. कीर्तिलता (विद्यापति-सं.1460),
    4. कीर्तिपताका (विद्यापति-सं.1460),
    5. खुमाण रासो (दलपतिविजय-सं.1180),
    6. बीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह-सं.1212),
    7. पृथ्वीराज रासो (चंद बरदाई-सं.1225-1249),
    8. जयचंद्र प्रकाश (भट्ट केदार-सं. 1225),
    9. जयमयंक जस चंद्रिका (मधुकर कवि-सं.1240),
    10. परमाल रासो (जगनिक कवि-सं.1230),
    11. खुसरो की पहेलियाँ (अमीर खुसरो-सं.1350),
    12. विद्यापति की पदावली (विद्यापति-सं.1460)।

शुक्ल जी द्वारा किये गये वीरगाथाकाल नामकरण के संबंध में कई विद्वानों ने अपना विरोध व्यक्त किया है। इनमें श्री मोतीलाल मैनारिया, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि मुख्य हैं। आचार्य द्विवेदी का कहना है कि वीरगाथा काल की महत्त्वपूर्ण रचना पृथ्वीराज रासो की रचना उस काल में नहीं हुई थी और यह एक अर्ध-प्रामाणिक रचना है। यही नहीं शुक्ल ने जिन गंथों के आधार पर इस काल का नामकरण किया है, उनमें से कई रचनाओं का वीरता से कोई संबंध नहीं है। बीसलदेव रासो गीति रचना है। जयचंद्र प्रकाश तथा जयमयंक जस चंद्रिका -इन दोनों का वीरता से कोई संबंध नहीं है। ये ग्रंथ केवल सूचना मात्र हैं। अमीर खुसरो की पहेलियों का भी वीरत्व से कोई संबंध नहीं है। विजयपाल

रासो का समय मिश्रबंधुओं ने सं.1355 माना है अतः इसका भी वीरता से कोई संबंध नहीं है। परमाल रासो पृथ्वीराज रासो की तरह अर्ध प्रामाणिक रचना है तथा इस ग्रंथ का मूल रूप प्राप्य नहीं है। कीर्तिलता और कीर्तिपताका- इन दोनों ग्रंथों की रचना विद्यापति ने अपने आश्रयदाता राजा कीर्तिसिंह की कीर्ति के गुणगान के लिए लिखे थे। उनका वीररस से कोई संबंध नहीं है। विद्यापति की पदावली का विषय राधा तथा अन्य गोपियों से कृष्ण की प्रेम-लीला है। इस प्रकार शुक्ल जी ने जिन आधार पर इस काल का नामकरण वीरगाथा काल किया है, वह योग्य नहीं है।

डॉ. ग्रियर्सन का मत

डॉ. ग्रियर्सन ने हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रथम काल को चारणकाल नाम दिया है। पर इस नाम के पक्ष में वे कोई ठोस तर्क नहीं दे पाये हैं। उन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास का प्रारंभ 643 ई. से मानी है, किन्तु उस समय की किसी चारण रचना या प्रवृत्ति का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएँ 1000 ई.स. तक मिलती ही नहीं हैं। इस लिए डॉ. ग्रियर्सन द्वारा दिया गया नाम योग्य नहीं है।

मिश्रबंधुओं का मत

मिश्रबंधुओं ने ई.स. 643 से 1387 तक के काल को प्रारंभिक काल कहा है। यह एक सामान्य नाम है और इसमें किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाया गया है। यह नाम भी विद्वानों को स्वीकार्य नहीं है।

डॉ. रामकुमार वर्मा का मत

डॉ. रामकुमार वर्मा- इन्होंने हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल को चारणकाल नाम दिया है। इस नामकरण के बारे में उनका कहना है कि इस काल के सभी कवि चारण थे, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी कवि राजाओं के दरबार-आश्रय में रहने वाले, उनके यशोगान करने वाले थे। उनके द्वारा रचा गया साहित्य चारणी कहलाता है। किन्तु विद्वानों का मानना है कि जिन रचनाओं का उल्लेख वर्मा जी ने किया है उनमें अनेक रचनाएँ संदिग्ध हैं। कुछ तो आधुनिक काल की भी हैं। इस कारण डॉ. वर्मा द्वारा दिया गया चारणकाल नाम विद्वानों को मान्य नहीं है।

राहुल संकृत्यायन का मत

राहुल संकृत्यायन- उन्होंने 8वीं से 13 वीं शताब्दी तक के काल को सिद्ध-सांमत युग की रचनाएँ माना है। उनके मतानुसार उस समय के काव्य में दो प्रवृत्तियों की प्रमुखता मिलती है- 1.सिद्धों की वाणी- इसके अंतर्गत बौद्ध तथा नाथ-सिद्धों की तथा जैनमुनियों की उपदेशमुलक तथा हठयोग की क्रिया का विस्तार से प्रचार करनेवाली रहस्यमूलक रचनाएँ आती हैं। 2.सामंतों की स्तृति- इसके अंतर्गत चारण कवियों के चरित काव्य (रासो ग्रंथ) आते हैं, जिनमें कवियों ने अपने आश्रय दाता राजा एवं सामंतों की स्तृति के लिए युद्ध, विवाह आदि के प्रसंगों का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है। इन ग्रंथों में वीरत्व का नवीन स्वर मुखरित हुआ है। राहुल जी का यह मत भी विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है। क्योंकि इस नामकरण से लौकिक रस का उल्लेख करने वाली किसी विशेष रचना का प्रमाण नहीं मिलता। नाथपंथी तथा हठयोगी कवियों तथा खुसरो आदि की काव्य-प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता है।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का मत

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी- उन्होंने हिंदी साहित्य के प्रथम काल का नाम बीज-बपन काल रखा। उनका यह नाम योग्य नहीं है क्योंकि साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह काल आदिकाल नहीं है। यह काल तो पूर्ववर्ती परिनिष्ठित अपभ्रंश की साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी- इन्होंने हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रारंभिक काल को आदिकाल नाम दिया है। विद्वान भी इस नाम को अधिक उपयुक्त मानते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है- वस्तुतः हिंदी का आदि काल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम, मनोभावापन्न, परंपराविनिर्मुक्त, काव्य-रूढियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक वहीं है। यह काल बहुत अधिक परंपरा-प्रेमी, रूढिग्रस्त, सजग और सचेत कवियों का काल है। आदिकाल नाम ही अधिक योग्य है क्योंकि साहित्य की दृष्टि से यह काल अपभ्रंश काल का विकास ही है, पर भाषा की दृष्टि से यह परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा की सूचना देता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी

साहित्य के आदिकाल के लक्षण-निरूपण के लिए निम्नलिखित पुस्तकें आधारभूत बतायी हैं-

1.पृथ्वीराज रासो, 2.परमाल रासो, 3. विद्यापति की पदावली, 4.कीर्तिलता, 5.कीर्तिपताका, 6.संदेशरासक (अब्दुल रेहमान), 7.पउमचरिउ (स्वयंभू कृत रामायण), 8.भविषयत्कहा (धनपाल), 9.परमात्म-प्रकाश (जोइन्दु), 10.बौद्ध गान और दोहा (संपादक पं.हरिप्रसाद शास्त्री), 11.स्वयंभू छंद और 12.प्राकृत पैंगलम्।

नाम निर्णय

इस प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास के प्रथम काल के नामकरण के रूप में आदिकाल नाम ही योग्य व सार्थक है, क्योंकि इस नाम से उस व्यापक पुष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर परवर्ती साहित्य खड़ा है। भाषा की दृष्टि से इस काल के साहित्य में हिंदी के प्रारंभिक रूप का पता चलता है तो भाव की दृष्टि से भक्तिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज इसमें खोजे जा सकते हैं। इस काल की रचना-शैलियों के मुख्य रूप इसके बाद के कालों में मिलते हैं। आदिकाल की आध्यात्मिक, शृंगारिक तथा वीरता की प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप परवर्ती साहित्य में मिलता है। इस कारण आदिकाल नाम ही अधिक उपयुक्त तथा व्यापक नाम है।

10

रीति काल

सन् 1700 ई.(1757 विक्रमी संवत) के आस-पास हिंदी कविता में एक नया मोड़ आया। इसे विशेषत: तात्कालिक दरबारी संस्कृति और संस्कृत साहित्य से उत्तेजना मिली। संस्कृत साहित्यशास्त्र के कतिपय अंशों ने उसे शास्त्रीय अनुशासन की ओर प्रवृत्त किया। हिंदी में श्रीति' या 'काव्यरीति' शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र के लिए हुआ था। इसलिए काव्यशास्त्रबद्ध सामान्य सृजनप्रवृत्ति और रस, अलंकार आदि के निरूपक बहुसंख्यक लक्षणग्रंथों को ध्यान में रखते हुए इस समय के काव्य को 'रीतिकाव्य' कहा गया। इस काव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों की पुरानी परंपरा के स्पष्ट संकेत संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी और हिंदी के आदिकाव्य तथा कृष्णकाव्य की शृंगारी प्रवृत्तियों में मिलते हैं।

इस काल में कई कवि ऐसे हुए हैं, जो आचार्य भी थे और जिन्होंने विविध काव्यांगों के लक्षण देने वाले ग्रंथ भी लिखे। इस युग में शृंगार की प्रधानता रही। यह युग मुक्तक-रचना का युग रहा। मुख्यतया कवित्त, सवैये और दोहे इस युग में लिखे गए। राजा-महाराजा और आश्रयदाता अब केवल काव्यों को पढ़ और सुनकर ही संतुष्ट नहीं होते थे, बल्कि अब वह स्वयं काव्य रचना करना चाहते थे। इस समय पर कवियों ने आचार्य का कर्त्तव्य निभाया।

कवि राजाश्रित होते थे इसलिए इस युग की कविता अधिकतर दरबारी रही जिसके फलस्वरूप इसमें चमत्कारपूर्ण व्यंजना की विशेष मात्रा तो मिलती है परंतु कविता साधारण जनता से विमुख भी हो गई।

रीतिकाल के अधिकांश कवि दरबारी थे। केशवदास (ओरछा), प्रताप सिंह (चरखारी), बिहारी (जयपुर, आमेर), मतिराम (बूँदी), भूषण (पन्ना), चिंतामणि (नागपुर), देव (पिहानी), भिखारीदास (प्रतापगढ़-अवध), रघुनाथ (काशी), बेनी (किशनगढ़), गंग (दिल्ली), टीकाराम (बड़ौदा), ग्वाल (पंजाब), चन्द्रशेखर बाजपेई (पटियाला), हरनाम (कपूरथला), कुलपति मिश्र (जयपुर), नेवाज (पन्ना), सुरति मिश्र (दिल्ली), कवीन्द्र उदयनाथ (अमेठी), ऋषिनाथ (काशी), रतन कवि (श्रीनगर-गढ़वाल), बेनी बन्दीजन (अवध), बेनी प्रवीन (लखनऊ), ब्रह्मदत्त (काशी), ठाकुर बुन्देलखण्डी (जैतपुर), बोधा (पन्ना), गुमान मिश्र (पिहानी) आदि और अनेक कवि तो राजा ही थे, जैसे- महाराज जसवन्त सिंह (तिर्वा), भगवन्त राय खीची, भूपति, रसनिधि (दतिया के जमींदार), महाराज विश्वनाथ, द्विजदेव (महाराज मानसिंह)।

रीतिकाव्य रचना का आरंभ एक संस्कृतज्ञ ने किया। ये थे। आचार्य केशवदास, जिनकी सर्वप्रसिद्ध रचनाएँ कविप्रिया, रसिकप्रिया और रामचंद्रिका हैं। कविप्रिया में अलंकार और रसिकप्रिया में रस का सोदाहरण निरूपण है। लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्तसवैए में हैं। लक्षण-लक्ष्य-ग्रंथों की यही परंपरा रीतिकाव्य में विकसित हुई। रामचंद्रिका केशव का प्रबंधकाव्य है, जिसमें भक्ति की तन्मयता के स्थान पर एक सजग कलाकार की प्रखर कलाचेतना प्रस्फुटित हुई। केशव के कई दशक बाद चिंतामणि से लेकर अठारहवीं सदी तक हिंदी में रीतिकाव्य का अजस्र स्रोत प्रवाहित हुआ जिसमें नर-नारी-जीवन के रमणीय पक्षों और तत्संबंधी सरस संवेदनाओं की अत्यंत कलात्मक अभिव्यक्ति व्यापक रूप में हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रीतिकाव्य का शुरूआत केशवदास से न मानकर चिन्तामणि से माना है। उनका कहना है कि - केशवदास जी ने काव्य के सब अंगो का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। यह निःसन्देह है कि काव्यरीति का सम्यक समावेश पहले पहल ऑ.केशव ने ही किया। हिन्दी में रीतिग्रन्थों की अविरल और अखंडित परम्परा का प्रवाह केशव की 'कविप्रिया ' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर केशव के आदर्श को लेकर नहीं।' वे कहते है कि-'हिन्दी रीतिग्रन्थो की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रि.से चली, अतः रीतिकाल का आरम्भ उन्हीं से मानना चाहिए '।

परिचय

रीतिकाल के कवि राजाओं और रईसों के आश्रय में रहते थे। वहाँ मनोरंजन और कलाविलास का वातावरण स्वाभाविक था। बौद्धिक आनंद का मुख्य साधन वहाँ उक्तिवैचित्रय समझा जाता था। ऐसे वातावरण में लिखा गया साहित्य अधिकतर शृंगार मूलक और कलावैचित्रय से युक्त था। पर इसी समय प्रेम के स्वच्छंद गायक भी हुए जिन्होंने प्रेम की गहराइयों का स्पर्श किया है। मात्रा और काव्यगुण दोनों ही दृष्टियों से इस समय का नर-नारी-प्रेम और सौंदर्य की मार्मिक व्यंजना करने वाला काव्य साहित्य महत्त्वपूर्ण है।

इस समय वीरकाव्य भी लिखा गया। मुगल शासक औरंगजेब की कट्टर सांप्रदायिकता और आक्रामक राजनीति की टकराहट से इस काल में, जो विक्षोभ की स्थितियाँ आई उन्होंने कुछ कवियों को वीरकाव्य के सृजन की भी प्रेरणा दी। ऐसे कवियों में भूषण प्रमुख हैं, जिन्होंने रीतिशैली को अपनाते हुए भी वीरों के पराक्रम का ओजस्वी वर्णन किया। इस समय नीति, वैराग्य और भक्ति से संबंधित काव्य भी लिखा गया। अनेक प्रबंधकाव्य भी निर्मित हुए। इधर के शोधकार्य में इस समय की शृंगारेतर रचनाएँ और प्रबंधकाव्य प्रचुर परिमाण में मिल रहे हैं। इसलिए रीतिकालीन काव्य को नितांत एकांगी और एकरूप समझना उचित नहीं है। इस समय के काव्य में पूर्ववर्ती कालों की सभी प्रवृत्तियाँ सक्रिय हैं। यह प्रधान धारा शृंगार काव्य की है, जो इस समय की काव्यसंपत्ति का वास्तविक निदर्शक मानी जाती रही है। शृंगारी काव्य तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहला वर्ग रीतिबद्ध कवियों का है, जिसके प्रतिनिधि केशव, चिंतामणि, भिखारीदास, देव, मतिराम और पद्माकर आदि हैं। इन कवियों ने दोहों में रस, अलंकार और नायिका के लक्षण देकर कवित्त सवैए में प्रेम और सौंदर्य की कलापूर्ण मार्मिक व्यंजना की है। संस्कृत साहित्यशास्त्र में निरूपित शास्त्रीय चर्चा का अनुसरण मात्र इनमें अधिक है। पर कुछ ने थोड़ी मौलिकता भी दिखाई है, जैसे भिखारीदास का हिंदी छंदों का निरूपण। दूसरा वर्ग रीतिसिद्ध कवियों का है। इन कवियों ने लक्षण नहीं निरूपित किए, केवल उनके आधार पर काव्य रचना की। बिहारी इनमें सर्वश्रेष्ठ हैं, जिन्होंने दोहों में अपनी 'सतसई' प्रस्तुत की। विभिन्न मुद्राओं वाले अत्यंत व्यंजक सौंदर्यचित्रों और प्रेम की भावदशाओं का अनुपम अंकन इनके काव्य में मिलता है। तीसरे वर्ग में घनानंद, बोधा, द्विजदेव ठाकुर आदि रीतिमुक्त कवि आते हैं, जिन्होंने स्वच्छंद प्रेम की अभिव्यक्ति की है। इनकी रचनाओं में प्रेम की तीव्रता और गहनता की अत्यंत प्रभावशाली व्यंजना हुई है।

रीतिकाव्य मुख्यत: मांसल श्रृंगार का काव्य है। इसमें नर-नारीजीवन के रमणीय पक्षों का सुंदर उद्घाटन हुआ है। अधिक काव्य मुक्तक शैली में है, पर प्रबंधकाव्य भी हैं। इन दो सौ वर्षों में श्रृंगारकाव्य का अपूर्व उत्कर्ष हुआ। पर धीरे धीरे रीति की जकड़ बढ़ती गई और हिंदी काव्य का भावक्षेत्र संकीर्ण होता गया। आधुनिक युग तक आते आते इन दोनों कमियों की ओर साहित्यकारों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ।

इतिहास साक्षी है कि अपने पराभव काल में भी यह युग वैभव विकास का था। मुगल दरबार के हरम में पाँच-पाँच हजार रूपसियाँ रहती थीं। मीना बाजार लगते थे, सुरा-सुन्दरी का उन्मुक्त व्यापार होता था। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं- 'वासना का सागर ऐसे प्रबल वेग से उमड़ रहा था कि शुद्धिवाद सम्राट के सभी निषेध प्रयत्न उसमें बह गये। अमीर-उमराव ने उसके निषेध पत्रों को शराब की सुराही में गर्क कर दिया। विलास के अन्य साधन भी प्रचुर मात्रा में थे।' पद्माकर ने एक ही छन्द में तत्कालीन दरबारों की रूपरेखा का अंकन कर दिया है-

गुलगुली गिल में गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चाँदनी है, चिक है चिरागन की माला हैं।
कहैं पद्माकर त्यौं गजक गिजा है सजी
सेज हैं सुराही हैं सुरा हैं और प्याला हैं।
सिसिर के पाला को व्यापत न कसाला तिन्हें,
जिनके अधीन ऐते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला है, विनोद के रसाला है,
सुबाला हैं, दुसाला हैं विसाला चित्रसाला हैं। 6

ऐहलौकिकता, श्रृंगारिकता, नायिकाभेद और अलंकार-प्रियता इस युग की प्रमुख विशेषताएँ हैं। प्राय: सब कवियों ने ब्रज-भाषा को अपनाया है। स्वतंत्र कविता कम लिखी गई, रस, अलंकार वगैरह काव्यांगों के लक्षण लिखते समय उदाहरण के रूप में - विशेषकर श्रृंगार के आलंबनों एवं उद्दीपनों के उदाहरण के रूप में - सरस रचनाएँ इस युग में लिखी गईं। भूषण कवि ने वीर रस की रचनाएँ भी दीं। भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष अधिक समृद्ध रहा। शब्द-शक्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, न नाटयशास्त्र का विवेचन किया गया। विषयों का संकोच हो गया और मौलिकता का ह्रास होने लगा। इस समय अनेक कवि हुएकृ केशव, चिंतामणि, देव, बिहारी, मतिराम, भूषण, घनानंद, पद्माकर आदि। इनमें से केशव, बिहारी और भूषण को इस युग का प्रतिनिधि कवि माना जा

सकता है। बिहारी ने दोहों की संभावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित कर दिया। आपको रीति-काल का प्रतिनिधि कवि माना जा सकता है।

इस काल के कवियों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है-

(1) रीतिबद्ध कवि

(2) रीतिमुक्त कवि

(3) रीतिसिद्ध कवि।

विद्वानों का यह भी मत हॅ कि इस काल के कवियों ने काव्य में मर्यादा का पूर्ण पालन किया है। घोर श्रृंगारी कविता होने पर भी कहीं भी मर्यादा का उल्लंघन देखने को नहीं मिलता है।

11

हिंदी की विभिन्न बोलियाँ और उनका साहित्य

हिन्दी की अनेक बोलियाँ (उपभाषाएँ) हैं, भारत में कुल 18 बोलियाँ हैं, जिनमें अवधी, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली, बघेली, हड़ौती, भोजपुरी, हरयाणवी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी, मालवी, नागपुरी, खोरठा, पंचपरगनिया, कुमाउँनी, मगही आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ में अत्यंत उच्च श्रेणी के साहित्य की रचना हुई है। ऐसी बोलियों में ब्रजभाषा और अवधी प्रमुख हैं। यह बोलियाँ हिन्दी की विविधता हैं और उसकी शक्ति भी। वे हिन्दी की जड़ों को गहरा बनाती हैं। हिन्दी की बोलियाँ और उन बोलियों की उपबोलियाँ हैं जो न केवल अपने में एक बड़ी परंपरा, इतिहास, सभ्यता को समेटे हुए हैं। वरन स्वतंत्रता संग्राम, जनसंघर्ष, वर्तमान के बाजारवाद के खिलाफ भी उसका रचना संसार सचेत है।

मोटे तौर पर हिंद (भारत) की किसी भाषा को 'हिंदी' कहा जा सकता है। अंग्रेजी शासन के पूर्व इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता था। पर वर्तमानकाल में सामान्यत: इसका व्यवहार उस विस्तृत भूखंड की भाषा के लिए होता है जो पश्चिम में जैसलमेर, उत्तर पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल की तराई, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खंडवा तक फैली हुई है। हिंदी के मुख्य दो भेद हैं - पश्चिमी हिंदी तथा पूर्वी हिंदी।

पश्चिमी और पूर्वी हिंदी

जैसा ऊपर कहा गया है, अपने सीमित भाषाशास्त्रीय अर्थ में हिंदी के दो उपरूप माने जाते हैं – पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी।

पश्चिमी हिन्दी

पश्चिमी हिंदी का विकास शौरसैनी अपभ्रंश से हुआ है। इसके अंतर्गत पाँच बोलियाँ हैं – खड़ी बोली, हरियाणी, ब्रज, कन्नौजी और बुंदेली। खड़ी बोली अपने मूल रूप में मेरठ, रामपुर, मुरादाबाद, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, बिजनौर, के आसपास बोली जाती है। इसी के आधार पर आधुनिक हिंदी और उर्दू का रूप खड़ा हुआ। बांगरू को जाटू या हरियाणवी भी कहते हैं। यह पंजाब के दक्षिण पूर्व में बोली जाती है। कुछ विद्वानों के अनुसार बांगरू खड़ी बोली का ही एक रूप है, जिसमें पंजाबी और राजस्थानी का मिश्रण है। ब्रजभाषा मथुरा के आसपास ब्रजमंडल में बोली जाती है। हिंदी साहित्य के मध्ययुग में ब्रजभाषा में उच्च कोटि का काव्य निर्मित हुआ। इसलिए इसे बोली न कहकर आदरपूर्वक भाषा कहा गया। मध्यकाल में यह बोली संपूर्ण हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा के रूप में मान्य हो गई थी। पर साहित्यिक ब्रजभाषा में ब्रज के ठेठ शब्दों के साथ अन्य प्रांतों के शब्दों और प्रयोगों का भी ग्रहण है। कन्नौजी गंगा के मध्य दोआब की बोली है। इसके एक ओर ब्रजमंडल है और दूसरी ओर अवधी का क्षेत्र। यह ब्रजभाषा से इतनी मिलती जुलती है कि इसमें रचा गया, जो थोड़ा बहुत साहित्य है वह ब्रजभाषा का ही माना जाता है। बुंदेली बुंदेलखंड की उपभाषा है। बुंदेलखंड में ब्रजभाषा के अच्छे कवि हुए हैं, जिनकी काव्यभाषा पर बुंदेली का प्रभाव है।

पूर्वी हिन्दी

पूर्वी हिंदी की तीन शाखाएँ हैं – अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी अर्धमागधी प्राकृत की परंपरा में है। यह अवध में बोली जाती है। इसके दो भेद हैं –पूर्वी अवधी और पश्चिमी अवधी। अवधी को बैसवाड़ी भी कहते हैं। तुलसी के रामचरितमानस में अधिकांशतः पश्चिमी अवधी मिलती हैं और जायसी के पदमावत में पूर्वी अवधी। बघेली बघेलखंड में प्रचलित है। यह अवधी का ही एक दक्षिणी रूप है। छत्तीसगढ़ी पलामू (बिहार) की सीमा से लेकर दक्षिण में बस्तर तक और पश्चिम में बघेलखंड की सीमा से उड़ीसा की सीमा तक फैले

हुए भूभाग की बोली है। इसमें प्राचीन साहित्य नहीं मिलता। वर्तमान काल में कुछ लोकसाहित्य रचा गया है।

बिहारी, राजस्थानी=बिहारी हिंदी के अंतर्गत मगही, भोजपुरी,आदि बोलियां आती हैं और पहाड़ी हिंदी प्रदेश की तीन उपभाषाएँ और हैं – बिहारी, राजस्थानी और पहाड़ी हिंदी।

बिहारी की तीन शाखाएँ हैं – भोजपुरी, मगही और मैथिली। बिहार के एक कस्बे भोजपुर के नाम पर भोजपुरी बोली का नामकरण हुआ। पर भोजपुरी का प्रसार बिहार से अधिक उत्तर प्रदेश में है। बिहार के शाहाबाद, चंपारन और सारन जिले से लेकर गोरखपुर तथा बारस कमिश्नरी तक का क्षेत्र भोजपुरी का है। भोजपुरी पूर्वी हिंदी के अधिक निकट है। हिंदी प्रदेश की बोलियों में भोजपुरी बोलनेवालों की संख्या सबसे अधिक है। इसमें प्राचीन साहित्य तो नहीं मिलता पर ग्रामगीतों के अतिरिक्त वर्तमान काल में कुछ साहित्य रचने का प्रयत्न भी हो रहा है। मगही के केंद्र पटना और गया हैं। इसके लिए कैथी लिपि का व्यवहार होता है। पर आधुनिक मगही साहित्य मुख्यत: देवनागरी लिपि में लिखी जा रही है। मगही का आधुनिक साहित्य बहुत समृद्ध है और इसमें प्राय: सभी विधाओं में रचनाओं का प्रकाशन हुआ है।

मैथिली एक स्वतंत्र भाषा है, जो संस्कृत के करीब होने के कारण हिंदी से मिलती जुलती लगती है। परन्तु, मैथिली हिंदी से अधिक बांग्ला के निकट है।

मैथिली गंगा के उत्तर में दरभंगा के आसपास प्रचलित है। इसकी साहित्यिक परंपरा पुरानी है। विद्यापति के पद प्रसिद्ध ही हैं। मध्ययुग में लिखे मैथिली नाटक भी मिलते हैं। आधुनिक काल में भी मैथिली का साहित्य निर्मित हो रहा है।

मैथिली भाषा भारत और नेपाल के संविधान में राजभाषा के रूप में भी दर्ज है। नेपाल में दूसरी सबसे ज्यादा बोली जाने वाली भाषा मैथिली है।

राजस्थानी का प्रसार पंजाब के दक्षिण में है। यह पूरे राजपूताने और मध्य प्रदेश के मालवा में बोली जाती है। राजस्थानी का संबंध एक ओर ब्रजभाषा से है और दूसरी ओर गुजराती से। पुरानी राजस्थानी को डिंगल कहते हैं। जिसमें चारणों का लिखा हिंदी का आरंभिक साहित्य उपलब्ध है। राजस्थानी में गद्य साहित्य की भी पुरानी परंपरा है। राजस्थानी की चार मुख्य बोलियाँ या विभाषाएँ

हैं– मेवाती, मालवी, जयपुरी और मारवाड़ी। मारवाड़ी का प्रचलन सबसे अधिक है। राजस्थानी के अंतर्गत कुछ विद्वान् भीली को भी लेते हैं।

पहाड़ी उपभाषा राजस्थानी से मिलती जुलती हैं। इसका प्रसार हिंदी प्रदेश के उत्तर हिमालय के दक्षिणी भाग में नेपाल से शिमला तक है। इसकी तीन शाखाएँ हैं – पूर्वी, मध्यवर्ती और पश्चिमी। पूर्वी पहाड़ी नेपाल की प्रधान भाषा है, जिसे नेपाली और परंबतिया भी कहा जाता है। मध्यवर्ती पहाड़ी कुमायूँ और गढ़वाल में प्रचलित है। इसके दो भेद हैं – कुमाउँनी और गढ़वाली। ये पहाड़ी उपभाषाएँ नागरी लिपि में लिखी जाती हैं। इनमें पुराना साहित्य नहीं मिलता। आधुनिक काल में कुछ साहित्य लिखा जा रहा है। कुछ विद्वान् पहाड़ी को राजस्थानी के अंतर्गत ही मानते हैं। पश्चिमी पहाड़ी हिमाचल प्रदेश में बोली जाती है। इसकी मुख्य उपबोलियों में मंडियाली, कुल्लवी, चाम्बियाली, क्याँथली, कांगड़ी, सिरमौरी, बघाटी और बिलासपुरी प्रमुख हैं।

प्रयोग-क्षेत्र के अनुसार वर्गीकरण

हिन्दी भाषा का भौगोलिक विस्तार काफी दूर–दूर तक है, जिसे तीन क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है–

(क) हिन्दी क्षेत्र – हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी की मुख्यतः सत्रह बोलियाँ बोली जाती हैं, जिन्हें पाँच बोली वर्गों में इस प्रकार विभक्त कर के रखा जा सकता है– पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी हिन्दी, पहाडी हिन्दी और बिहारी हिन्दी।

(ख) अन्य भाषा क्षेत्रदृ इनमें प्रमुख बोलियाँ इस प्रकार हैं– दक्खिनी हिन्दी (गुलबर्गी, बीदरी, बीजापुरी तथा हैदराबादी आदि), बम्बइया हिन्दी, कलकतिया हिन्दी तथा शिलंगी हिन्दी (बाजार–हिन्दी) आदि।

(ग) भारतेतर क्षेत्र – भारत के बाहर भी कई देशों में हिन्दी भाषी लोग काफी बड़ी संख्या में बसे हैं। सीमावर्ती देशों के अलावा यूरोप, अमेरिका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, रुस, जापान, चीन तथा समस्त दक्षिण पूर्व व मध्य एशिया में हिन्दी बोलने वालों की बहुत बडी संख्या है। लगभग सभी देशों की राजधानियों के विश्वविद्यालयों में हिन्दी एक विषय के रूप में पढी–पढाई जाती है। भारत के बाहर

हिन्दी की प्रमुख बोलियाँ – ताजुज्बेकी हिन्दी, मारिशसी हिन्दी, फीजी हिन्दी, सूरीनामी हिन्दी आदि हैं।

हिंदी प्रदेशों की हिंदी बोलियाँ

पश्चिमी हिंदी

1. खड़ी बोली–देहरादून, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, बिजनौर, रामपुर और मुरादाबाद।
2. बृजभाषा–आगरा, मथुरा, अलीगढ़, मैनपुरी, एटा, हाथरस, बदायूं, बरेली, धौलपुर।
3. हरियाणवी–हरियाणा और दिल्ली का देहाती प्रदेश।
4. बुंदेली–झांसी,जालौन,हमीरपुर,ओरछा,सागर,नृसिंहपुर, सिवनी,होशंगाबादल
5. कन्नौजी : उत्तर प्रदेश के इटावा, फर्रूखघबाद, शाहजहांपुर, कानपुर, हरदोई और पीलीभीत, जिलों के ग्रामीणांचल में बहुतायत से बोली जाती है।

पूर्वी हिंदी

1. अवधी–कानपुर, लखनऊ, बाराबंकी, उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फतेहपुर, अयोध्या, गोंडा, प्रतापगढ़, सुल्तानपुर जिले।
2. बघेली–रीवा, शहदोल, सतना, मैहर, नागौद।
3. छत्तीसगढ़ी–बिलासपुर, दुर्ग, रायपुर, रायगढ़, नंदगांव, काकेर, सरगुजा, कोरिया।
4. राजस्थानी
5. मारवाड़ी भाषा
6. जयपुरी
7. मेवाती
8. मालवी
9. पहाड़ी
10. पूर्वी पहाड़ी, जिसमें नेपाली आती है
11. मध्यवर्ती पहाड़ी, जिसमें कुमाऊंनी और गढ़वाली आती है।
12. पश्चिमी पहाड़ी, जिसमें हिमाचल प्रदेश की अनेक बोलियां आती हैं।

13. बिहारी भाषा
14. मैथिली
15. भोजपुरी
16. मगही
17. नागपुरी
18. अंगिका
19. बज्जिका
20. खोरठा
21. पंचपरगनिया
22. हिंदीतर प्रदेशों की हिंदी बोलियाँ
23. बंबइया हिंदी
24. कलकतिया हिंदी
25. दक्खिनी
26. विदेशों में बोली जाने वाली हिंदी बोलियाँ
27. उजबेकिस्तान
28. मारिशस
29. फिजी
30. सूरीनाम
31. मध्यपूर्व
32. ट्रिनिदाद और टोबैगो
33. दक्षिण अफ्रीका

12

हिन्दी पत्रकारिता

नंद मौर्य राजवंश हिन्दी पत्रकारिता की कहानी भारतीय राष्ट्रीयता की कहानी है। हिन्दी पत्रकारिता के आदि उन्नायक जातीय चेतना, युगबोध और अपने महत् दायित्व के प्रति पूर्ण सचेत थे। कदाचित् इसलिए विदेशी सरकार की दमन-नीति का उन्हें शिकार होना पड़ा था, उसके नृशंस व्यवहार की यातना झेलनी पड़ी थी। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी गद्य-निर्माण की चेष्टा और हिन्दी-प्रचार आन्दोलन अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में भयंकर कठिनाइयों का सामना करते हुए भी कितना तेज और पुष्ट था इसका साक्ष्य 'भारतमित्र' (सन् 1878 ई, में) 'सार सुधानिधि' (सन् 1879 ई.) और 'उचित वक्ता' (सन् 1880 ई.) के जीर्ण पृष्ठों पर मुखर है।

वर्तमान में हिन्दी पत्रकारिता ने अंग्रेजी पत्रकारिता के दबदबे को खत्म कर दिया है। पहले देश-विदेश में अंग्रेजी पत्रकारिता का दबदबा था, लेकिन आज हिन्दी भाषा का झण्डा चंहुदिश लहरा रहा है। 30 मई को 'हिन्दी पत्रकारिता दिवस' के रूप में मनाया जाता है।

भारतीय भाषाओं में पत्रकारिता का आरम्भ और हिन्दी पत्रकारिता

भारतवर्ष में आधुनिक ढंग की पत्रकारिता का जन्म अठारहवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में कलकत्ता, बंबई और मद्रास में हुआ। 1780 ई. में प्रकाशित हिके (भ्पबामल) का 'कलकत्ता गजट' कदाचित् इस ओर पहला प्रयत्न था। हिंदी के

पहले पत्र उदंत मार्तण्ड (1826) के प्रकाशित होने तक इन नगरों की ऐंग्लोइंडियन अंग्रेजी पत्रकारिता काफी विकसित हो गई थी।

इन अंतिम वर्षों में फारसी भाषा में भी पत्रकारिता का जन्म हो चुका था। 18वीं शताब्दी के फारसी पत्र कदाचित् हस्तलिखित पत्र थे। 1801 में 'हिंदुस्थान इंटेलिजेंस ओरिऐंटल ऐंथॉलॉजी' नाम का जो संकलन प्रकाशित हुआ उसमें उत्तर भारत के कितने ही 'अखबारों' के उद्धरण थे। 1810 में मौलवी इकराम अली ने कलकत्ता से लीथो पत्र 'हिंदोस्तानी' प्रकाशित करना आरंभ किया। 1816 में गंगाकिशोर भट्टाचार्य ने 'बंगाल गजट' का प्रवर्तन किया। यह पहला बंगला पत्र था। बाद में श्रीरामपुर के पादरियों ने प्रसिद्ध प्रचारपत्र 'समाचार दर्पण' को (27 मई 1818) जन्म दिया। इन प्रारंभिक पत्रों के बाद 1823 में हमें बँगला भाषा के 'समाचारचंद्रिका' और 'संवाद कौमुदी', फारसी उर्दू के 'जामे जहाँनुमा' और 'शमसुल अखबार' तथा गुजराती के 'मुंबई समाचार' के दर्शन होते हैं।

यह स्पष्ट है कि हिंदी पत्रकारिता बहुत बाद की चीज नहीं है। दिल्ली का 'उर्दू अखबार' (1833) और मराठी का 'दिग्दर्शन' (1837) हिंदी के पहले पत्र 'उदंत मार्तंड' (1826) के बाद ही आए। 'उदंत मार्तंड' के संपादक पंडित जुगलकिशोर थे। यह साप्ताहिक

पत्र था। पत्र की भाषा पछाँही हिंदी रहती थी, जिसे पत्र के संपादकों ने 'मध्यदेशीय भाषा' कहा है। यह पत्र 1827 में बंद हो गया। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलना असंभव था। कंपनी सरकार ने मिशनरियों के पत्र को डाक आदि की सुविधा दे रखी थी, परंतु चेष्टा करने पर भी 'उदंत मार्तंड' को यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी।

हिंदी पत्रकारिता का पहला चरण

1826 ई. से 1873 ई. तक को हम हिंदी पत्रकारिता का पहला चरण कह सकते हैं। 1873 ई. में भारतेन्दु ने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' की स्थापना की। एक वर्ष बाद यह पत्र 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैसे भारतेन्दु का 'कविवचन सुधा' पत्र 1867 में ही सामने आ गया था और उसने पत्रकारिता के विकास में महत्त्वपूर्ण भाग लिया थाय परंतु नई भाषाशैली का प्रवर्तन 1873 में 'हरिश्चंद्र मैगजीन' से ही हुआ। इस बीच के अधिकांश पत्र प्रयोग मात्र कहे जा सकते हैं और उनके पीछे पत्रकला का ज्ञान अथवा नए विचारों के प्रचार की भावना नहीं है। 'उदंत मार्तंड' के बाद प्रमुख पत्र हैं–

बंगदूत (1829), प्रजामित्र (1834), बनारस अखबार (1845), मार्तंड पंचभाषीय (1846), ज्ञानदीप (1846), मालवा अखबार (1849), जगद्दीप भास्कर (1849), सुधाकर (1850), साम्यदंड मार्तंड (1850), मजहरुलसरूर (1850), बुद्धिप्रकाश (1852), ग्वालियर गजेट (1853), समाचार सुधावर्षण (1854), दैनिक कलकत्ता, प्रजाहितैषी (1855), सर्वहितकारक (1855), सूरजप्रकाश (1861), जगलाभचिंतक (1861), सर्वोपकारक (1861), प्रजाहित (1861), लोकमित्र (1835), भारतखंडामृत (1864), तत्त्वबोधिनी पत्रिका (1865), ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका (1866), सोमप्रकाश (1866), सत्यदीपक (1866), वृत्तांतविलास (1867), ज्ञानदीपक (1867), कविवचनसुधा (1867), धर्मप्रकाश (1867), विद्याविलास (1867), वृत्तांतदर्पण (1867), विद्यादर्श (1869), ब्रह्मज्ञानप्रकाश (1869), अलमोड़ा अखबार (1870), आगरा अखबार (1870), बुद्धिविलास (1870), हिंदू प्रकाश (1871), प्रयागदूत (1871), बुंदेलखंड अखबर (1871), प्रेमपत्र (1872) और बोधा समाचार (1872)।

इन पत्रों में से कुछ मासिक थे, कुछ साप्ताहिक। दैनिक पत्र केवल एक था 'समाचार सुधावर्षण' जो द्विभाषीय (बंगला हिंदी) था और कलकत्ता से प्रकाशित होता था। यह दैनिक पत्र 1871 तक चलता रहा। अधिकांश पत्र आगरा से प्रकाशित होते थे जो उन दिनों एक बड़ा शिक्षाकेंद्र था और विद्यार्थी समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। शेष ब्रह्मसमाज, सनातन धर्म और मिशनरियों के प्रचार कार्य से संबंधित थे। बहुत से पत्र द्विभाषीय (हिंदी उर्दू) थे और कुछ तो पंचभाषीय तक थे। इससे भी पत्रकारिता की अपरिपक्व दशा ही सूचित होती है। हिंदी प्रदेश के प्रारंभिक पत्रों में 'बनारस अखबार' (1845) काफी प्रभावशाली था और उसी की भाषानीति के विरोध में 1850 में तारामोहन मैत्र ने काशी से साप्ताहिक 'सुधाकर' और 1855 में राजा लक्ष्मणसिंह ने आगरा से 'प्रजाहितैषी' का प्रकाशन आरंभ किया था। राजा शिवप्रसाद का 'बनारस अखबार' उर्दू भाषाशैली को अपनाता था तो ये दोनों पत्र पंडिताऊ तत्समप्रधान शैली की ओर झुकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि 1867 से पहले भाषाशैली के संबंध में हिंदी पत्रकार किसी निश्चित शैली का अनुसरण नहीं कर सके थे। इस वर्ष 'कवि वचनसुधा' का प्रकाशन हुआ और एक तरह से हम उसे पहला महत्त्वपूर्ण पत्र कह सकते हैं। पहले यह मासिक था, फिर पाक्षिक हुआ और अंत में साप्ताहिक। भारतेन्दु के बहुविध व्यक्तित्त्व का प्रकाशन इस पत्र के माध्यम

से हुआ, परंतु सच तो यह है कि 'हरिश्चंद्र मैगजीन' के प्रकाशन (1873) तक वे भी भाषाशैली और विचारों के क्षेत्र में मार्ग ही खोजते दिखाई देते हैं।

हिंदी पत्रकारिता का दूसरा युग : भारतेन्दु युग

हिंदी पत्रकारिता का दूसरा युग 1873 से 1900 तक चलता है। इस युग के एक छोर पर भारतेन्दु का 'हरिश्चंद्र मैगजीन' था ओर नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदनप्राप्त 'सरस्वती'। इन 27 वर्षों में प्रकाशित पत्रों की संख्या 300-350 से ऊपर है और ये नागपुर तक फैले हुए हैं। अधिकांश पत्र मासिक या साप्ताहिक थे। मासिक पत्रों में निबंध, नवल कथा (उपन्यास), वार्ता आदि के रूप में कुछ अधिक स्थायी संपत्ति रहती थी, परन्तु अधिकांश पत्र 10-15 पृष्ठों से अधिक नहीं जाते थे और उन्हें हम आज के शब्दों में 'विचारपत्र' ही कह सकते हैं। साप्ताहिक पत्रों में समाचारों और उनपर टिप्पणियों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। वास्तव में दैनिक समाचार के प्रति उस समय विशेष आग्रह नहीं था और कदाचित् इसीलिए उन दिनों साप्ताहिक और मासिक पत्र कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थे। उन्होंने जनजागरण में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के इन 25 वर्षों का आदर्श भारतेन्दु की पत्रकारिता थी। 'कविवचनसुधा' (1867), 'हरिश्चंद्र मैगजीन' (1874), श्री हरिश्चंद्र चंद्रिका' (1874), बालबोधिनी (स्त्रीजन की पत्रिका, 1874) के रूप में भारतेन्दु ने इस दिशा में पथप्रदर्शन किया था। उनकी टीकाटिप्पणियों से अधिकरी तक घबराते थे और 'कविवचनसुधा' के 'पंच' पर रुष्ट होकर काशी के मजिस्ट्रेट ने भारतेन्दु के पत्रों को शिक्षा विभाग के लिए लेना भी बंद करा दिया था। इसमें संदेह नहीं कि पत्रकारिता के क्षेत्र भी भारतेन्दु पूर्णतया निर्भीक थे और उन्होंने नए नए पत्रों के लिए प्रोत्साहन दिया। 'हिंदी प्रदीपष, 'भारतजीवन' आदि अनेक पत्रों का नामकरण भी उन्होंने ही किया था। उनके युग के सभी पत्रकार उन्हें अग्रणी मानते थे।

भारतेन्दु के बाद

भारतेन्दु के बाद इस क्षेत्र में जो पत्रकार आए उनमें प्रमुख थे पंडित रुद्रदत्त शर्मा, (भारतमित्र, 1877), बालकृष्ण भट्ट (हिंदी प्रदीप, 1877), दुर्गाप्रसाद मिश्र (उचित वक्ता, 1878), पंडित सदानंद मिश्र (सारसुधानिधि, 1878), पंडित वंशीधर (सज्जन-कीर्त्ति-सुधाकर, 1878), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन'

(आनंदकादंबिनी, 1881), देवकीनंदन त्रिपाठी (प्रयाग समाचार, 1882), राधाचरण गोस्वामी (भारतेन्दु, 1882), पंडित गौरीदत्त (देवनागरी प्रचारक, 1882), राज रामपाल सिंह (हिंदुस्तान, 1883), प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण, 1883), अंबिकादत्त व्यास, (पीयूषप्रवाह, 1884), बाबू रामकृष्ण वर्मा (भारतजीवन, 1884), पं. रामगुलाम अवस्थी (शुभचिंतक, 1888), योगेशचंद्र वसु (हिंदी बंगवासी, 1890), पं. कुंदनलाल (कवि व चित्रकार, 1891) और बाबू देवकीनंदन खत्री एवं बाबू जगन्नाथदास (साहित्य सुधानिधि, 1894)। 1895 ई. में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन आरंभ होता है। इस पत्रिका से गंभीर साहित्यसमीक्षा का आरंभ हुआ और इसलिए हम इसे एक निश्चित प्रकाशस्तंभ मान सकते हैं। 1900 ई. में 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के अवतरण के साथ हिंदी पत्रकारिता के इस दूसरे युग पर पटाक्षेप हो जाता है।

इन 25 वर्षों में हिन्दी पत्रकारिता अनेक दिशाओं में विकसित हुई। प्रारंभिक पत्र शिक्षाप्रसार और धर्मप्रचार तक सीमित थे। भारतेन्दु ने सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक दिशाएँ भी विकसित कीं। उन्होंने ही 'बालाबोधिनी' (1874) नाम से पहला स्त्री-मासिक-पत्र चलाया। कुछ वर्ष बाद महिलाओं को स्वयं इस क्षेत्र में उतरते देखते हैं - 'भारतभगिनी' (हरदेवी, 1888), 'सुगृहिणी' (हेमंतकुमारी, 1889)। इन वर्षों में धर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज और सनातन धर्म के प्रचारक विशेष सक्रिय थे। ब्रह्मसमाज और राधास्वामी मत से संबंधित कुछ पत्र और मिर्जापुर जैसे ईसाई केंद्रों से कुछ ईसाई धर्म संबंधी पत्र भी सामने आते हैं, परंतु युग की धार्मिक प्रतिक्रियाओं को हम आर्यसमाज के और पौराणिकों के पत्रों में ही पाते हैं। आज ये पत्र कदाचित् उतने महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ते, परंतु इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने हिन्दी की गद्यशैली को पुष्ट किया और जनता में नए विचारों की ज्योति भी। इन धार्मिक वादविवादों के फलस्वरूप समाज के विभिन्न वर्ग और संप्रदाय सुधार की ओर अग्रसर हुए और बहुत शीघ्र ही सांप्रदायिक पत्रों की बाढ़ आ गई। सैकड़ों की संख्या में विभिन्न जातीय और वर्गीय पत्र प्रकाशित हुए और उन्होंने असंख्य जनों को वाणी दी।

आज वही पत्र हमारी इतिहास चेतना में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्होंने भाषा शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्र में कोई अप्रतिम कार्य किया हो। साहित्यिक दृष्टि से 'हिंदी प्रदीप' (1877), ब्राह्मण (1883), क्षत्रियपत्रिका (1880), आनंदकादंबिनी (1881), भारतेन्दु (1882), देवनागरी प्रचारक (1882), वैष्णव पत्रिका (पश्चात् पीयूषप्रवाह, 1883), कवि के चित्रकार

(1891), नागरी नीरद (1883), साहित्य सुधानिधि (1894) और राजनीतिक दृष्टि से भारतमित्र (1877), उचित वक्ता (1878), सार सुधानिधि (1878), भारतोदय (दैनिक, 1883), भारत जीवन (1884), भारतोदय (दैनिक, 1885), शुभचिंतक (1887) और हिंदी बंगवासी (1890) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन पत्रों में हमारे 19वीं शताब्दी के साहित्यरसिकों, हिंदी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिंतकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित है। यह क्षोभ का विषय है कि हम इस महत्त्वपूर्ण सामग्री का पत्रों की फाइलों से उद्धार नहीं कर सके। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानं मिश्र, रुद्रदत्त शर्मा, अंबिकादत्त व्यास और बालमुकुंद गुप्त जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबंध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास परिहास औप स्केच आज में हमें अलभ्य हो रहे हैं। आज भी हमारे पत्रकार उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही।

तीसरा चरण : बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्ष

बीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता हमारे लिए अपेक्षाकृत निकट है और उसमें बहुत कुछ पिछले युग की पत्रकारिता की ही विविधता और बहुरूपता मिलती है। 19वीं शती के पत्रकारों को भाषा-शैलीक्षेत्र में अव्यवस्था का सामना करना पड़ा था। उन्हें एक ओर अंग्रेजी और दूसरी ओर उर्दू के पत्रों के सामने अपनी वस्तु रखनी थी। अभी हिंदी में रुचि रखनेवाली जनता बहुत छोटी थी। धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और हम हिंदी पत्रों को साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में नेतृत्व करते पाते हैं। इस शताब्दी से धर्म और समाजसुधार के आंदोलन कुछ पीछे पड़ गए और जातीय चेतना ने धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण कर लिया। फलतः अधिकांश पत्र, साहित्य और राजनीति को ही लेकर चले। साहित्यिक पत्रों के क्षेत्र में पहले दो दशकों में आचार्य द्विवेदी द्वारा संपादित 'सरस्वती' (1903-1918) का नेतृत्व रहा। वस्तुतः इन बीस वर्षों में हिंदी के मासिक पत्र एक महान साहित्यिक शक्ति के रूप में सामने आए। शृंखलित उपन्यास कहानी के रूप में कई पत्र प्रकाशित हुए - जैसे उपन्यास 1901, हिंदी नाविल 1901, उपन्यास लहरी 1902, उपन्याससागर 1903, उपन्यास कुसुमांजलि 1904, उपन्यासबहार 1907, उपन्यास प्रचार 19012। केवल कविता अथवा समस्यापूर्ति लेकर अनेक पत्र उन्नीसवीं शतब्दी के अंतिम वर्षों में निकलने लगे थे। वे चले रहे। समालोचना के क्षेत्र में 'समालोचक' (1902) और ऐतिहासिक शोध से

संबंधित 'इतिहास' (1905) का प्रकाशन भी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। परंतु सरस्वती ने 'मिस्लेनी' ( ) के रूप में जो आदर्श रखा था, वह अधिक लोकप्रिय रहा और इस श्रेणी के पत्रों में उसके साथ कुछ थोड़े ही पत्रों का नाम लिया जा सकता है, जैसे 'भारतेन्दु' (1905), नागरी हितैषिणी पत्रिका, बाँकीपुर (1905), नागरीप्रचारक (1906), मिथिलामिहिर (1910) और इंदु (1909)। 'सरस्वती' और 'इंदु' दोनों हिन्दी की साहित्यचेतना के इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं और एक तरह से हम उन्हें उस युग की साहित्यिक पत्रकारिता का शीर्षमणि कह सकते हैं। 'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'इंदु' के माध्यम से पंडित रूपनारायण पांडेय ने जिस संपादकीय सतर्कता, अध्यवसाय और ईमानदारी का आदर्श हमारे सामने रखा वह हिन्दी पत्रकारिता को एक नई दिशा देने में समर्थ हुआ।

परंतु राजनीतिक क्षेत्र में हिन्दी पत्रकारिता को नेतृत्व प्राप्त नहीं हो सका। पिछले युग की राजनीतिक पत्रकारिता का केंद्र कलकत्ता था, परंतु कलकत्ता हिंदी प्रदेश से दूर पड़ता था और स्वयं हिंदी प्रदेश को राजनीतिक दिशा में जागरूक नेतृत्व कुछ देर में मिला। हिंदी प्रदेश का पहला दैनिक राजा रामपालसिंह का द्विभाषीय 'हिंदुस्तान' (1883) है जो अंग्रेजी और हिंदी में कालाकाँकर से प्रकाशित होता था। दो वर्ष बाद (1885 में), बाबू सीताराम ने 'भारतोदय' नाम से एक दैनिक पत्र कानपुर से निकालना शुरू किया। परंतु ये दोनों पत्र दीर्घजीवी नहीं हो सके और साप्ताहिक पत्रों को ही राजनीतिक विचारधारा का वाहन बनना पड़ा। वास्तव में उन्नीसवीं शतब्दी में कलकत्ता के भारत मित्र, वंगवासी, सारसुधानिधि और उचित वक्ता ही हिंदी प्रदेश की रानीतिक भावना का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमें कदाचित् 'भारतमित्र' ही सबसे अधिक स्थायी और शक्तिशाली था। उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल और महाराष्ट्र लोक जाग्रति के केंद्र थे और उग्र राष्ट्रीय पत्रकारिता में भी ये ही प्रांत अग्रणी थे। हिंदी प्रदेश के पत्रकारों ने इन प्रांतों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया और बहुत दिनों तक उनका स्वतंत्र राजनीतिक व्यक्तित्त्व विकसित नहीं हो सका। फिर भी हम 'अभ्युदय' (1905), 'प्रताप' (1913), 'कर्मयोगी', 'हिंदी केसरी' (1904-1908) आदि के रूप में हिंदी राजनीतिक पत्रकारिता को कई डग आगे बढ़ाते पाते हैं। प्रथम महायुद्ध की उत्तेजना ने एक बार फिर कई दैनिक पत्रों को जन्म दिया। कलकत्ता से 'कलकत्ता समाचार', 'स्वतंत्र' और 'विश्वमित्र' प्रकाशित हुए, बंबई से 'वेंकटेश्वर समाचार' ने अपना दैनिक संस्करण प्रकाशित

करना आरंभ किया और दिल्ली से 'विजय' निकला। 1921 में काशी से 'आज' और कानपुर से 'वर्तमान' प्रकाशित हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि 1921 में हिंदी पत्रकारिता फिर एक बार करवटें लेती है और राजनीतिक क्षेत्र में अपना नया जीवन आरंभ करती है। हमारे साहित्यिक पत्रों के क्षेत्र में भी नई प्रवृत्तियों का आरंभ इसी समय से होता है। फलत: बीसवीं शती के पहले बीस वर्षों को हम हिंदी पत्रकारिता का तीसरा चरण कह सकते हैं।

आधुनिक युग

1921 के बाद हिंदी पत्रकारिता का समसामयिक युग आरंभ होता है। इस युग में हम राष्ट्रीय और साहित्यिक चेतना को साथ साथ पल्लवित पाते हैं। इसी समय के लगभग हिंदी का प्रवेश विश्वविद्यालयों में हुआ और कुछ ऐसे कृती संपादक सामने आए जो अंग्रेजी की पत्रकारिता से पूर्णत: परिचित थे और जो हिंदी पत्रों को अंग्रेजी, मराठी और बँगला के पत्रों के समकक्ष लाना चाहते थे। फलत: साहित्यिक पत्रकारिता में एक नए युग का आरंभ हुआ। राष्ट्रीय आंदोलनों ने हिंदी की राष्ट्रभाषा के लिए योग्यता पहली बार घोषित की ओर जैसे-जैसे राष्ट्रीय आंदोलनों का बल बढ़ने लगा, हिंदी के पत्रकार और पत्र अधिक महत्त्व पाने लगे। 1921 के बाद गांधी जी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलन मध्यवर्ग तक सीमित न रहकर ग्रामीणों और श्रमिकों तक पहुंच गया और उसके इस प्रसार में हिंदी पत्रकारिता ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। सच तो यह है कि हिंदी पत्रकार राष्ट्रीय आंदोलनों की अग्र पंक्ति में थे और उन्होंने विदेशी सत्ता से डटकर मोर्चा लिया। विदेशी सरकार ने अनेक बार नए नए कानून बनाकर समाचारपत्रों की स्वतंत्रता पर कुठाराघात किया परंतु जेल, जुर्माना और अनेकानेक मानसिक और आर्थिक कठिनाइयाँ झेलते हुए भी हिन्दी पत्रकारों ने स्वतंत्र विचार की दीपशिखा जलाए रखी।

1921 के बाद साहित्यक्षेत्र में जो पत्र आए उनमें प्रमुख हैं–

स्वार्थ (1922), माधुरी (1923), मर्यादा, चाँद (1923), मनोरमा (1924), समालोचक (1924), चित्रपट (1925), कल्याण (1926), सुधा (1927), विशालभारत (1928), त्यागभूमि (1928), हंस (1930), गंगा (1930), विश्वमित्र (1933), रूपाभ (1938), साहित्य संदेश (1938), कमला (1939), मधुकर (1940), जीवनसाहित्य (1940), विश्वभारती (1942), संगम (1942), कुमार (1944), नया साहित्य (1945), पारिजात (1945), हिमालय (1946) आदि।

वास्तव में आज हमारे मासिक साहित्य की प्रौढ़ता और विविधता में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता। हिंदी की अनेकानेक प्रथम श्रेणी की रचनाएँ मासिकों द्वारा ही पहले प्रकाश में आई और अनेक श्रेष्ठ कवि और साहित्यकार पत्रकारिता से भी संबंधित रहे। आज हमारे मासिक पत्र जीवन और साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति करते हैं और अब विशेषज्ञता की ओर भी ध्यान जाने लगा है। साहित्य की प्रवृत्तियों की जैसी विकासमान झलक पत्रों में मिलती है, वैसी पुस्तकों में नहीं मिलती। वहाँ हमें साहित्य का सक्रिय, सप्राण, गतिशील रूप प्राप्त होता है।

राजनीतिक क्षेत्र में इस युग में जिन पत्रपत्रिकाओं की धूम रही वे हैं –

कर्मवीर (1924), सैनिक (1924), स्वदेश (1921), श्रीकृष्णसंदेश (1925), हिंदूपंच (1926), स्वतंत्र भारत (1928), जागरण (1929), हिंदी मिलाप (1929), सचित्र दरबार (1930), स्वराज्य (1931), नवयुग (1932), हरिजन सेवक (1932), विश्वबंधु (1933), नवशक्ति (1934), योगी (1934), हिंदू (1936), देशदूत (1938), राष्ट्रीयता (1938), संघर्ष (1938), चिनगारी (1938), नवज्योति (1938), संगम (1940), जनयुग (1942), रामराज्य (1942), संसार (1943), लोकवाणी (1942), सावधान (1942), हुंकार (1942) और सन्मार्ग (1943), जनवार्ता (1972)।

इनमें से अधिकांश साप्ताहिक हैं, परंतु जनमन के निर्माण में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण रहा है। जहाँ तक पत्र कला का संबंध है वहाँ तक हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि तीसरे और चौथे युग के पत्रों में धरती और आकाश का अंतर है। आज पत्रसंपादन वास्तव में उच्च कोटि की कला है। राजनीतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'आज' (1921) और उसके संपादक स्वर्गीय बाबूराव विष्णु पराड़कर का लगभग वही स्थान है जो साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को प्राप्त है। सच तो यह है कि 'आज' ने पत्रकला के क्षेत्र में एक महान संस्था का काम किया है और उसने हिंदी को बीसियों पत्रसंपादक और पत्रकार दिए हैं।

आधुनिक साहित्य के अनेक अंगों की भाँति हिन्दी पत्रकारिता भी नई कोटि की है और उसमें भी मुख्यत: हमारे मध्यवित्त वर्ग की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक औ राजनीतिक हलचलों का प्रतिबिंब भास्वर है। वास्तव में पिछले 200 वर्षों का सच्चा इतिहास हमारी पत्रपत्रिकाओं से ही संकलित हो सकता है। बँगला के 'कलेर कथा' ग्रंथ में पत्रों के अवतरणों के आधार पर

बंगाल के उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यवित्तीय जीवन के आकलन का प्रयत्न हुआ है। हिंदी में भी ऐसा प्रयत्न वांछनीय है। एक तरह से उन्नीसवीं शती में साहित्य कही जा सकनेवाली चीज बहुत कम है और जो है भी, वह पत्रों के पृष्ठों में ही पहले-पहल सामने आई है। भाषाशैली के निर्माण और जातीय शैली के विकास में पत्रों का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है, परंतु बीसवीं शती के पहले दो दशकों के अंत तक मासिक पत्र और साप्ताहिक पत्र ही हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियों को जन्म देते और विकसित करते रहे हैं। द्विवेदी युग के साहित्य को हम 'सरस्वती' और 'इंदु' में जिस प्रयोगात्मक रूप में देखते हैं, वही उस साहित्य का असली रूप है। 1921 ई. के बाद साहित्य बहुत कुछ पत्रपत्रिकाओं से स्वतंत्र होकर अपने पैरों पर खड़ा होने लगा, परंतु फिर भी विशिष्ट साहित्यिक आंदोलनों के लिए हमें मासिक पत्रों के पृष्ठ ही उलटने पड़ते हैं। राजनीतिक चेतना के लिए तो पत्रपत्रिकाएँ हैं ही। वस्तुतः पत्रपत्रिकाएँ जितनी बड़ी जनसंख्या को छूती हैं, विशुद्ध साहित्य का उतनी बड़ी जनसंख्या तक पहुँचना असंभव है।

1990 के बाद

90 के दशक में भारतीय भाषाओं के अखबारों, हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में अमर उजाला, दैनिक भास्कर, दैनिक जागरण आदि के नगरों-कस्बों से कई संस्करण निकलने शुरू हुए। जहां पहले महानगरों से अखबार छपते थे, भूमंडलीकरण के बाद आयी नयी तकनीक, बेहतर सड़क और यातायात के संसाधनों की सुलभता की वजह से छोटे शहरों, कस्बों से भी नगर संस्करण का छपना आसान हो गया। साथ ही इन दशकों में ग्रामीण इलाकों, कस्बों में फैलते बाजार में नयी वस्तुओं के लिए नये उपभोक्ताओं की तलाश भी शुरू हुई। हिंदी के अखबार इन वस्तुओं के प्रचार-प्रसार का एक जरिया बन कर उभरा है। साथ ही साथ अखबारों के इन संस्करणों में स्थानीय खबरों को प्रमुखता से छापा जाता है। इससे अखबारों के पाठकों की संख्या में काफी बढ़ोतरी हुई है। मीडिया विशेषज्ञ सेवंती निनान ने इसे शहिंदी की सार्वजनिक दुनिया का पुनर्विष्कार' कहा है। वे लिखती हैं, "प्रिंट मीडिया ने स्थानीय घटनाओं के कवरेज द्वारा जिला स्तर पर हिंदी की मौजूद सार्वजनिक दुनिया का विस्तार किया है और साथ ही अखबारों के स्थानीय संस्करणों के द्वारा अनजाने में इसका पुनर्विष्कार किया है।

1990 में राष्ट्रीय पाठक सर्वेक्षण की रिपोर्ट बताती थी कि पाँच अगुवा अखबारों में हिन्दी का केवल एक समाचार पत्र हुआ करता था। पिछले (सर्वे)

ने साबित कर दिया कि हम कितनी तेजी से बढ़ रहे हैं। इस बार (2010) सबसे अधिक पढ़े जाने वाले पाँच अखबारों में शुरू के चार हिंदी के हैं।

एक उत्साहजनक बात और भी है कि आईआरएस सर्वे में जिन 42 शहरों को सबसे तेजी से उभरता माना गया है, उनमें से ज्यादातर हिन्दी हृदय प्रदेश के हैं। मतलब साफ है कि अगर पिछले तीन दशक में दक्षिण के राज्यों ने विकास की जबरदस्त पींगें बढ़ाई तो आने वाले दशक हम हिन्दी वालों के हैं। ऐसा नहीं है कि अखबार के अध्ययन के मामले में ही यह प्रदेश अगुवा साबित हो रहे हैं। आईटी इंडस्ट्री का एक आँकड़ा बताता है कि हिन्दी और भारतीय भाषाओं में नेट पर पढ़ने-लिखने वालों की तादाद लगातार बढ़ रही है।

मतलब साफ है। हिन्दी की आकांक्षाओं का यह विस्तार पत्रकारों की ओर भी देख रहा है। प्रगति की चेतना के साथ समाज की निचली कतार में बैठे लोग भी समाचार पत्रों की पंक्तियों में दिखने चाहिए। पिछले आईएएस, आईआईटी और तमाम शिक्षा परिषदों के परिणामों ने साबित कर दिया है कि हिन्दी भाषियों में सबसे निचली सीढ़ियों पर बैठे लोग भी जबरदस्त उछाल के लिए तैयार हैं। हिन्दी के पत्रकारों को उनसे एक कदम आगे चलना होगा ताकि उस जगह को फिर से हासिल सकें, जिसे पिछले चार दशकों में हमने लगातार खोया।

पत्रकारिता

आधुनिक सभ्यता का एक प्रमुख व्यवसाय है, जिसमें समाचारों का एकत्रीकरण, लिखना, जानकारी एकत्रित करके पहुँचाना, सम्पादित करना और सम्यक प्रस्तुतीकरण आदि सम्मिलित हैं। आज के युग में पत्रकारिता के भी अनेक माध्यम हो गये हैं, जैसे - अखबार, पत्रिकाएँ, रेडियो, दूरदर्शन, वेब-पत्रकारिता आदि। बदलते वक्त के साथ बाजारवाद और पत्रकारिता के अंतर्संबंधों ने पत्रकारिता की विषय-वस्तु तथा प्रस्तुति शैली में व्यापक परिवर्तन किए।

परिभाषा

पत्रकारिता शब्द अंग्रेजी के 'जर्नलिज्म' (Journalism) का हिंदी रूपांतर है। शब्दार्थ की दृष्टि से 'जर्नलिज्म' शब्द 'जर्नल' से निर्मित है और इसका आशय है 'दैनिकश। अर्थात जिसमें दैनिक कार्यों व सरकारी बैठकों का विवरण हो। आज जर्णल शब्द 'मैगजीन' का द्योतक हो चला है। यानी, दैनिक,

दैनिक समाचार-पत्र या दूसरे प्रकाशन, कोई सर्वाधिक प्रकाशन जिसमें किसी विशिष्ट क्षेत्र के समाचार हो। (डॉ. हरिमोहन एवं हरिशंकर जोशी- खोजी पत्रकारिता, तक्षशिला प्रकाशन)

पत्रकारिता लोकतंत्र का अविभाज्य अंग है। प्रतिपल परिवर्तित होनेवाले जीवन और जगत का दर्शन पत्रकारिता द्वारा ही संभंव है। परिस्थितियों के अध्ययन, चिंतन-मनन और आत्माभिव्यक्ति की प्रवृत्ति और दूसरों का कल्याण अर्थात् लोकमंगल की भावना ने ही पत्रकारिता को जन्म दिया। जर्नलिज्म में मोजो

सुनील सिंह

ना 15-20 किलो का ट्राईपॉड, कैमरा और नाही 3-जी मशीन या ओबी वैन ... बस एक मोबाइल और हल्का किलो भर का ट्राइपॉड जहां मन वहां ताना लाइव शुरू ... एक समय था जब टीवी पत्रकारिता मतलब बड़ा तामझाम था लेकिन अब तो एक ही शख्स मोबाइल कैमरे से शूट भी करता है रिपोर्टिंग भी और लाइव टेलीकॉस्ट भी वो भी मोबाइल फोन से ही। तकनीकी विकास ने टी वी पत्रकारिता का सिर्फ कायापलट नहीं किया है नाम भी बदल दिया है । इस नये युग की पत्रकारिता को अब मोजो के नाम से जाना जाता है । मोजो माने मोबाइल जर्नलिज्म। लागत भी टीवी किट के मुकाबले बेहद कम है। इसका सबसे बड़ा फायदा ब्रेकिंग न्यूज की परिस्थितियों में है। जहां पर सीधे प्रसारण के लिए कैमरे और ओबी वैन ले जाने में दिक्कत होती है वहां मोजो किट आसानी से सबसे पहली तस्वीरें दर्शकों के पास पहुंचा सकती हैं। 70 का दशक था जब टी वी पत्रकारिता की शुरुआत हुई। उस समय पत्रकार , कैमरामैन ,साउंड रिकॉर्डर और सहायक मतलब चार लोगों की टीम हुआ करती थी। यू - मैटिक कैमरा हुआ करता था बिना रिकॉर्डर के यानी रिकॉर्डर अलग से रहता था। टेप भी बड़ा एक किताब के आकार का हुआ करता था लेकिन उसमे रिकोर्डिंग 10 और 20 मिनट ही कर सकते थे। बाजार में तब सोनी कंपनी का बोलबाला था। सोनी कंपनी ने ही बाद में बीटा मैक्स फॉर्मेट लाया जो उस दौर में एडवांस माना जाता था। बीटा मैक्स टेप का आकार यू मैटिक से थोड़ा छोटा था जबकि रिकॉर्डिंग के लिए ज्यादा जगहं थी। ये फॉर्मेट कई वर्षों तक चला। लेकिन बीटा कैमकॉर्डर ने आते ही बीटा मैक्स की जगहं ले ली, क्योंकि इसमें रिकॉर्डर कैमेरे के साथ ही लगा हुआ था मतलब रिकॉर्डर अलग से पकड़ने की जरूरत नहीं थी और ऑपरेटिंग सिस्टम भी आसान था। लेकिन इससे टीम में

से एक आदमी की नौकरी पर बन आयी क्योंकि अब अलग से साउंड रिकॉर्डर की जरूरत नहीं थी। तकनीक के इस युग में समय के साथ तेजी से परिवर्तन हो रहा था। जल्द ही डिजिटल कैमरा बाजार में आ गए। सोनी, पैनासोनिक और जे वी सी कंपनियों में आगे बढ़ने की होड में बहुत ही छोटे कैमेरे बनने लगे मिनी डीवी के रूप में। इन छोटे कैमरों ने बाजार में हलचल मचा दी थी। आकार में छोटे, लेकिन शूटिंग समय और पिक्चर क्वालिटी में कहीं बेहतर साथ में रंगीन व्यू फाइंडर भी। 4 लोगों की टीम अब घटकर 2 की हो चुकी थी। लेकिन स्टोरी शूट कर टेप जल्द से जल्द अपने दफ्तर या फिर दिल्ली भेजना पड़ता था।इसके लिए राइडर रखे जाते थे वो मोटरसाइकिल पर शहर में घूम घूम कर रिपोर्टरों से टेप लेते और दफ्तर लाकर देते ताकि स्टोरी एडिट हो सके।

अपलिंकिंग की व्यवस्था नहीं होने की वजह से विमान से टेप दिल्ली भेजने पड़ते थे। लेकिन साल 2000 तक इस समस्या का भी समाधान निकल गया। बडे बडे छातों वाली ओ बी यानी कि ब्रॉडकास्टिंग वैन आ चुकी थी। जिसके जरिये सिर्फ शूट किया हुआ ही दफतर में या दिल्ली भेजना आसान नहीं हुआ था लाइव टेलीकॉस्ट भी सम्भव हो गया था। अभी तक दिन में तय समय पर ही दिखने वाले टी वी न्यूज अब 24 घंटा चलने लगे थे। टी वी खबरों की दुनिया में तहलका मच चुका था।दुनियां में कहीं भी कुछ हुआ तो उसकी तस्वीर तुरंत टी वी चैनलों पर देखने को मिल जाती थी। जापान में आयी सुनामी के बाद डिजिटल मीडिया में बड़ी क्रांति आई। मैग्नेटिक प्लास्टिक टेप की बजाय टेप लेस टेक्नोलॉजी यानी चिप का उदय हुआ।। कैमरा, एसेसरीज और टेप सबकुछ बदल गया। छोटे से मेमरी कार्ड में बड़ी दुनिया समाने लगी। वीडियो की क्वालिटी भी हाई डेफिनेशन में हो गई। कम आदमी और कम खर्चे में अच्छा परिणाम, टीवी न्यूज के लिए वरदान साबित होने लगा था। उसके बाद आई मोबाइल और इंटरनेट क्रांति ने तो दुनिया की तस्वीर ही बदलकर रख दी। जिस मोबाइल फोन का ईजाद दूर बैठे शख्स से संपर्क यानी बात करने के लिए हुआ था। वो ऑडियो वीडियो रिकॉर्डिंग की सुविधा से लैस हो गया। पहले तस्वीर खींचने की सुविधा थी, फिर ऑडियो और वीडियो रिकॉर्डिंग भी होने लगी। इंटरनेट से वीडियो भेजना भी आसान हो गया। अब तो आलम ये है कि सोशल मीडिया पर अनेको न्यूज वेबसाइट खुल गई हैं, जिस पर मोबाइल से ही शूट किए वीडियो से खबरें बनकर अपलोड हो रही हैं। लेकिन न्यूज चैनलों में मोजो जर्नलिज्म का क्रेडिट एन डी टी वी को जाता है। अब इसे गला काट प्रतियोगिता

में सीमित साधनों के साथ टिके रहने की चुनौती कहें या नई तकनीकी के प्रयोग का साहस, जो भी हो एन डी टी वी ने मोबाइल जर्नलिज्म को स्थापित कर दिया है। हालांकि ये इतना आसान भी नहीं था। खबर सोचने से लेकर शूट करने और उसे अपलिंक करने तक सारी जिम्मेदारी एक अकेले रिपोर्टर पर आ गई यानी खबरनवीस कम टेक्निकल ज्यादा।

कैमरामैन की नौकरी पर बन आयी लिहाजा नाराजगी स्वाभाविक थी। फील्ड में दूसरे चैनलों के कैमरामैनो की नजर में अभी अचानक से हम दुश्मन बन गए। लेकिन एन डी टी वी अपने प्रयोग पर टिका रहा। शूट में गुणवत्ता के लिए सभी रिपोर्टरों को सैमसंग 8 प्लस के नए मोबाइल दिए गये। जो एच डी से भी सुपर क्वालिटी से लैस है। शुरू में चैनल ने एक मोजो बुलेटिन शुरू किया फिर धीरे – धीरे स्टुडिओ एंकरिंग से लेकर कई बुलेटिन मोजो से ही शूट होने लगे। अब तो मोबाइल से सीधा प्रसारण भी होना शुरू हो गया है। संवाददाता फील्ड से ही न सिर्फ तस्वीरें बल्कि अपनी स्टोरी एडिट कर न्यूजरूम भेज सकता है। न्यूजरूम भी अब बदल रहे हैं और अब पारंपरिक न्यूजरूम की जगह मल्टीमीडिया न्यूजरूम आ गए हैं। जापान के एक न्यूज चैनल ने तो बाकायदा इस पर एक टीवी रिपोर्ट भी बनाया है जो वायरल हुआ और लोगों ने पसंद भी किया। आज आलम ये है कि दूसरे चैनल भी अब मोजो जर्नलिज्म की तरफ बढ़ रहे हैं। बड़ी बात ये है कि शुरू में कुछ बड़े नेता ,अभिनेता,अफसर और वकील मोबाइल पर शूट करते देख विदक जाते थे लेकिन अब ऐसा नहीं है। अब तो कई नेता और अफसर अपनी बाइट यानी कि इंटरव्यू क्लिप खुद ही बनाकर टी वी पत्रकारों को भेजने लगे हैं। जिससे उनका समय और ऊर्जा दोनों की बचत हो रही है। इंटरनेट और मोबाइल ने तो दुनिया को इस कदर नजदीक ला दिया है कि दुनिया के किसी भी कोने में बैठकर हम कहीं की भी स्टोरी कर सकते हैं अन्याय और समस्याओं को उजागर कर न्याय भी दिला सकते हैं। भारत के 77 भारतीय मजदूर श्रीलंका में भुवलका स्टील में काम कर रहे थे। लेकिन प्रोडक्शन में कमी की वजह से उनका वेतन रुक गया था। हालत ये हो गई थी कि वो खाने के लिए मोहताज हो गए और भारत वापस आने के लिए टिकट के पैसे भी नहीं थे। सोशल मीडिया के जरिये उनकी लाचारी की जानकारी मिलते ही मैंने उनसे मोबाइल से संपर्क किया और उन्हें अपना दर्द शूट कर व्हाट्सअप करने को कहा। उन्होंने वीडियो ओर बाइट बनाकर भेजा। सबकुछ जांच पड़ताल कर और कंपनी के मालिक की प्रतिक्रिया के साथ खबर बनाई।

चैनल पर खबर चली और विदेश मंत्रालय ने तुरतं उसमें दखल दिया। नतीजा सभी 77 भारतीय अपने वतन वापस आने में कामयाब रहे। लेकिन इसके फायदे हैं तो नुकसान भी । आज सभी के हाथ में मोबाइल है और उसमे इंटरनेट। जिसे जो मन में आता है उसे शूट कर या कुछ भी लिखकर पोस्ट कर देता है। जनता भी खुद को पत्रकार से कम नहीं समझती। जगहं – जगहं सिटीजन जर्नलिस्ट पैदा हो गए हैं। लेकिन चूंकि इन्हें पत्रकारिता की नियमावली पता नहीं होती इसलिए वो बिना सोचे समझे पोस्ट कर कभी कभी मुसीबत भी खड़ी कर देते हैं। फिर मोबाइल जर्नलिज्म की अपनी कुछ सीमाएं भी हैं। जिन इलाकों में इंटरनेट स्पीड धीमी है वहां से खबरें भेजने में परेशानी आ सकती है। इसके अपने नैतिक तथा कानूनी पक्ष भी हैं। खबरें करते वक्त दूसरों की निजता का सम्मान करना बेहद जरूरी है। बिना किसी को जानकारी दिए बातचीत रिकॉर्ड करना नैतिकता के दायरे में नहीं आता। इसी तरह जहां टीवी कैमरों को जाने की इजाजत नहीं है,

डॉ बद्रीनाथ कपूर के अनुसार – पत्रकारिता पत्र पत्रिकाओं के लिए समाचार लेख एकत्रित तथा संपादित करने, प्रकाशन आदेश देने का कार्य है।

हिंदी शब्द सागर के अनुसार– पत्रकार का काम या व्यवसाय पत्रकारिता है।

श्री प्रेमनाथ चतुर्वेदी के अनुसार– पत्रकारिता विशिष्ट देश, काल और परिस्थिति के आधार पर तथ्यों का, परोक्ष मूल्य का संदर्भ प्रस्तुत करती है।

टाइम्स पत्रिका के अनुसार– पत्रकारिता इधर–उधर उधर से एकत्रित, सूचनाओं का केंद्र, जो सही दृष्टि से संदेश भेजने का काम करता है, जिससे घटनाओं का सहीपन को देखा जाता है।

डॉ कृष्ण बिहारी मिश्र के अनुसार– पत्रकारिता वह विद्या है, जिसमें पत्रकारों के कार्यों, कर्त्तव्यों, और उद्देश्यों का विवेचन किया जाता है। जो अपने युग और अपने संबंध में लिखा जाए वह पत्रकारिता है।

डॉ भुवन सुराणा के अनुसार– पत्रकारिता वह धर्म है, जिसका संबंध पत्रकार के उस धर्म से है, जिसमें वह तत्कालिक घटनाओं और समस्याओं का अधिक सही और निष्पक्ष विवरण पाठक के समक्ष प्रस्तुत करता है।

उपरोक्त परिभाषाएँ के आधार पर हम कह सकते हैं कि पत्रकारिता जनता को समसामयिक घटनाएं वस्तुनिष्ठ तथा निष्पक्ष रुप से उपलब्ध कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य है।सत्य की आधार शीला पर पत्रकारिता का कार्य आधारित होता

है तथा जनकल्याण की भावना से जुड़कर पत्रकारितासामाजिक परिवर्तन का साधन बन जाता है।

पत्रकारिता का स्वरूप और विशेषताएँ

सामाजिक सरोकारों तथा सार्वजनिक हित से जुड़कर ही पत्रकारिता सार्थक बनती है। सामाजिक सरोकारों को व्यवस्था की दहलीज तक पहुँचाने और प्रशासन की जनहितकारी नीतियों तथा योजनाओं को समाज के सबसे निचले तबके तक ले जाने के दायित्व का निर्वाह ही सार्थक पत्रकारिता है।

पत्रकारिता को लोकतंत्र का चौथा पाया (स्तम्भ) भी कहा जाता है। पत्रकारिता ने लोकतंत्र में यह महत्त्वपूर्ण स्थान अपने आप नहीं हासिल किया है बल्कि सामाजिक सरोकारों के प्रति पत्रकारिता के दायित्वों के महत्त्व को देखते हुए समाज ने ही दर्जा दिया है। कोई भी लोकतंत्र तभी सशक्त है जब पत्रकारिता सामाजिक सरोकारों के प्रति अपनी सार्थक भूमिका निभाती रहे। सार्थक पत्रकारिता का उद्देश्य ही यह होना चाहिए कि वह प्रशासन और समाज के बीच एक महत्त्वपूर्ण कड़ी की भूमिका अपनाएँ।

पत्रकारिता के इतिहास पर नजर डाले तो स्वतंत्रता के पूर्व पत्रकारिता का मुख्य उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्ति का लक्ष्य था। स्वतंत्रता के लिए चले आंदोलन और स्वाधीनता संग्राम में पत्रकारिता ने अहम और सार्थक भूमिका निभाई। उस दौर में पत्रकारिता ने पूरे देश को एकता के सूत्र में पिरोने के साथ-साथ पूरे समाज को स्वाधीनता की प्राप्ति के लक्ष्य से जोड़े रखा।

इंटरनेट और सूचना के आधिकार (आर.टी.आई.) ने आज की पत्रकारिता को बहुआयामी और अनंत बना दिया है। आज कोई भी जानकारी पलक झपकते उपलब्ध की और कराई जा सकती है। मीडिया आज काफी सशक्त, स्वतंत्र और प्रभावकारी हो गया है। पत्रकारिता की पहुँच और आभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का व्यापक इस्तेमाल आमतौर पर सामाजिक सरोकारों और भलाई से ही जुड़ा है, किंतु कभी कभार इसका दुरपयोग भी होने लगा है।

संचार क्रांति तथा सूचना के आधिकार के अलावा आर्थिक उदारीकरण ने पत्रकारिता के चेहरे को पूरी तरह बदलकर रख दिया है। विज्ञापनों से होनेवाली अथाह कमाई ने पत्रकारिता को काफी हद्द तक व्यावसायिक बना दिया है। मीडिया का लक्ष्य आज आधिक से आधिक कमाई का हो चला है। मीडिया के इसी व्यावसायिक दृष्टिकोन का नतीजा है कि उसका ध्यान सामाजिक सरोकारों

से कहीं भटक गया है। मुद्दों पर आधारित पत्रकारिता के बजाय आज इन्फोटेमेंट ही मीडिया की सुर्खियों में रहता है।

इंटरनेट की व्यापकता और उस तक सार्वजनिक पहुँच के कारण उसका दुष्प्रयोग भी होने लगा है। इंटरनेट के उपयोगकर्त्ता निजी भड़ास निकालने और अतंर्गततथा आपत्तिजनक प्रलाप करने के लिए इस उपयोगी साधन का गलत इस्तेमाल करने लगे हैं। यही कारण है कि यदा-कदा मीडिया के इन बहुपयोगी साधनों पर अंकुश लगाने की बहस भी छिड़ जाती है। गनीमत है कि यह बहस सुझावों और शिकायतों तक ही सीमित रहती है। उस पर अमल की नौबत नहीं आने पाती। लोकतंत्र के हित में यही है कि जहाँ तक हो सके पत्रकारिता हो स्वतंत्र और निर्बाध रहने दिया जाए और पत्रकारिता का अपना हित इसमें है कि वह आभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उपयोग समाज और सामाजिक सरोकारों के प्रति अपने दायित्वों के ईमानदार निवर्हन के लिए करती रहे।

इतिहास

पत्रकारिता के प्रमुख रूप या प्रकार

खोजी पत्रकारिता

मनुष्य स्वभाव से ही जिज्ञासु होता है। उसे वह सब जानना अच्छा लगता है जो सार्वजनिक नहीं हो अथवा जिसे छिपाने की कोशिश की जा रही हो। मनुष्य यदि पत्रकार हो तो उसकी यही कोशिश रहती है कि वह ऐसी गूढ़ बातें या सच उजागर करे जो रहस्य की गहराइयों में कैद हो। सच की तह तक जाकर उसे सतह पर लाने या उजागर करने को ही हम अन्वेषी या खोजी पत्रकारिता कहते हैं।

खोजी पत्रकारिता एक तरह से जासूसी का ही दूसरा रूप है, जिसमें जोखिम भी बहुत है। यह सामान्य पत्रकारिता से कई मायनों में अलग और आधिक श्रमसाध्य है। इसमें एक-एक तथ्य और कड़ियों को एक दूसरे से जोड़ना होता है तब कहीं जाकर वांछित लक्ष्य की प्राप्ति होती है। कई बार तो पत्रकारों द्वारा की गई कड़ी मेहनत और खोज को बीच में ही छोड़ देना पड़ता है, क्योंकि आगे के रास्ते बंद हो चुके होते हैं। पत्रकारिता से जुड़ी पुरानी घटनाओं पर नजर दौड़ायें तो माई लाई कोड, वाटरगेट कांड, जैक एंडर्सन का पेंटागन

पेपर्स जैसे आंतरराष्ट्रीय कांड तथा सीमेंट घोटाला कांड, बोफोर्स कांड, ताबूत घोटाला कांड तथा जैसे राष्ट्रीय घोटाले खोजी पत्रकारिता के चर्चित उदाहरण हैं। ये घटनायें खोजी पत्रकारिता के उस दौर की हैं जब संचार क्रांति, इंटरनेट या सूचना का आधिकार (आर.टी.आई) जैसे प्रभावशाली अस्त्र पत्रकारों के पास नहीं थे। इन प्रभावशाली हथियारों के आस्तित्त्व में आने के बाद तो घोटाले उजागर होने का जैसे एक दौर ही शुरू हो गया हाल के कुछ चर्चित घोटालों में 2जी स्पेक्ट्रम घोटाला, कॉमनवेल्थ गेम्स घोटाला, आदर्श घोटाला, ताज कारीडोर घोटाला आदि उल्लेखनीय हैं। जाने-माने पत्रकार जुलियन असांज के 'विकीलिक्स' ने तो ऐसे-ऐसे रहस्योद्घाटन किये जिनसे कई देशों की सरकारें तक हिल गई।

इंटरनेट और सूचना के आधिकार ने पत्रकारों और पत्रकारिता की धार को अत्यंत पैना बना दिया, लेकिन इसका दूसरा पहलू यह भी है कि पत्रकारिता की आड़ में इन हथियारों का इस्तेमाल 'ब्लैकमेलिंग' जैसे गलत उद्देश्य के लिए भी होने लगा है। समय-समय पर हुए कुछ 'स्टिंग ऑपरेशन' और कई बहुचर्चित सी. डी. कांड इसके उदाहरण हैं।

स्टिंग पत्रकारिता के संदर्भ में फोटो जर्नलिज्म या फोटो पत्रकारिता से जुड़े जासूसों जिन्हें 'पापारात्सी' कहते हैं, की चर्चा भी जररी है। प्रिंसेस डायना की मौत के जिम्मेदार 'पैदराजा' ही थे। समाज की बेहतरी और उसकी भलाई के लिए खोजी पत्रकारिता का एक आवश्यक अंग जरर है, लेकिन इसे भी अपनी मर्यादाओं के घेरे में रहना चाहिए। खोजी पत्रकारिता साहसिक तक तो ठीक है, लेकिन इसका दुस्साहस न तो पत्रकारिता के हित में है और न ही समाज के।

खेल पत्रकारिता

खेल केवल मनोरंजन का साधन नहीं बल्कि वह अच्छे स्वास्थ्य, शारीरिक दमखम और बौद्धिक क्षमता का भी प्रतीक है। यही कारण है किं पूरी दुनिया में आति प्राचीनकाल से खेलों का प्रचलन रहा है। मल्ल-युद्ध, तीरंदाजी, घुड़सवारी, तैराकी, गुल्ली डंडा, पोलो रस्साकशी, मलखंभ, वॉल गेम्स, जैसे आउटडोर या मैदानी खेलों के अलावा चौपड़, चौसर या शतरंज जैसे इन्डोर खेल प्राचीनकाल से ही लोकप्रिय रहे हैं। आधुनिक काल में इन पुराने खेलों के अलावा इनसे मिलते जुलते खेलों तथा अन्य आधुनिक स्पर्धात्मक खेलों ने पूरी दुनिया में अपना वर्चस्व कायम कर रखा है। खेल आधुनिक हों या प्राचीन, खेलों में होने वाले अद्भुत कारनामों को जगजाहिर करने तथा उसका व्यापक

प्रचार-प्रसार करने में खेल पत्रकारिता का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आज पूरी दुनिया में खेल यदि लोकप्रियता के शिखर पर हैं तो उसका काफी कुछ श्रेय खेल पत्रकारिता को भी है।

आज स्थिति यह है कि समाचार पत्रों या पत्रिकाओं के अलावा किसी भी इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का स्करप तब तक परिपूर्ण नहीं माना जाता जब तक उसमें खेलों का भरपूर कवरेज नहीं हो। खेलों के प्रति मीडिया का यह रुझान 'डिमांड' और 'सप्लाई' पर आधारित है। आज भारत ही नहीं पूरी दुनिया में आबादी का एक बड़ा हिस्सा युवा वर्ग का है, जिसकी पहली पसंद विभिन्न खेल स्पर्धायें हैं, शायद यही कारण है कि पत्र-पत्रिकाओं में अगर सबसे आधिक कोई पन्ने पढ़ जाते हैं तो वह खेल से संबंधित होते है। प्रिंट मीडिया के अलावा टी. वी. चैनलों का भी एक बड़ा हिस्सा खेलों प्रसारण से जुड़ा होता है। खेल चैनल तो चौबीसों घंटे कोई न कोई खेल लेकर हाजिर ही रहते हैं। लाइव कवरेज या सीधा प्रसारण की बात तो छोड़िये रिकॉर्डे पुराने मैचों के प्रति भी दर्शकों का रझान कहीं कम नहीं दिखाई देता। पाठकों और दर्शकों की खेलों के प्रति दीवनगी का ही नतीजा है कि आज खेल की दुनिया में अकूत धन बरस रहा है। धन, जो विज्ञापन के रप में हो चाहे पुरस्कार राशि के रप में न लुटानेवालों की कमी है न पाने वालों की। यह स्थिति आज की है। लेकिन एक समय ऐसा भी था जब खेलों में धनदौलत को कोई नामोनिशान नहीं था। प्राचीन ओलिम्पिक खेलों जैसी विख्यात खेल स्पर्धा में भी विजेता को जैतून की पत्तियों के मुकुट का पुरस्कार दिया जाता था लेकिन वह ताज भी अनमोल हुआ करता था।

खेलों में धन-वर्षा का प्रारंभ कार्पोरेट जगत के इसमें प्रवेश से हुआ। कार्पोरेट जगत के प्रोत्साहन से कई खेल और खिलाड़ी प्रोफेशनल होने-लगे और खेल-स्पर्धाओं से लाखों करोड़ो कमाने लगे। आज टेनिस, फुटबॉल, बास्केट बॉल, बॉक्सिंग, स्क्वाश, गोल्फ जैसे खेलों में पैसोंकी बरसात हो रही है।

खेलों की लोकप्रियता और खिलाड़ियों की कमाई की बात करें तो आज क्रिकेट ने, जो दुनिया के गिने-चुने ही देशों में खेला जाता है, लोकप्रियता की नई ऊँचाइयाँ हासिल की हैं। किक्रेट में कारपोरेट जगत के रझान के कारण नवोदित क्रिकेटर भी अन्य खिलाड़ियों की तुलना में अच्छी खासी कमाई कर रहे हैं।

खेलों में धन की बरसात में कोई बुराई नहीं है। इससे खेलों और खिलाड़ियों के स्तर में सुधार ही होता है, लेकिन उसका बदसूरत पहलू यह भी

है कि खेलों में गलाकाट स्पर्धा के कारण इसमें फिक्सिंग और डोपिंग जैसी बुराइयों का प्रचलन भी बढ़ने लगा है। फिक्सिंग और डोपिंग जैसी बुराईयाँ न खिलाड़ियों के हित में हैं और न खलों के। खेल-पत्रकारिता की यह जिम्मेदारी है कि वह खेलों में पनप रही उन बुराईयों के किरध्द लगातार आवाज उठाती रहे। खेलों में खेल भावना की रक्षा हर कीमत पर होनी चाहिए। खेल पत्रकारिता से यह उम्मीद भी की जानी चाहिए कि आम लोगों से जुड़े खेलों को भी उतना ही महत्त्व और प्रोत्साहन मिले जितना अन्य लोकप्रिय खेलों को मिल रहा है।

महिला पत्रकारिता

पत्रकारिता जैसे व्यापक और विशद विषय में महिला पत्रकारिता की अवधारणा भले ही कुछ अटपटी लगती है, किंतु नारी स्वातंत्र्य और समानता के इस युग में भी आधी दुनिया से जुड़े ऐसे अनेक पहलू हैं, जिनके महत्त्व को देखते हुए महिला पत्रकारिता की अलग विधाकी आवश्यकता महसूस होती है।

पुरुष और नारी के भेद का सबसे बड़ा आधार तो उनकी अलग शारीरिक संरचना है। प्रकृति ने पुरुष को एक सांचे में ढाला है तो नारी को उससे अलग। एक समय था जब समाज पुरुष प्रधान हुआ था। पुरुष प्रधान समाज ने अपनी सुविधानुसार नारी को अबला बनाकर घर की चारदीवारी तक सीमित कर दिया था। विकास के निरंतर तेज गति से बदलते दौर ने महिलाओं को प्रगति का समान अवसर दिया और महिलाओं ने अपनी प्रतिभा और लगन के बलबूते पर समाज के हर क्षेत्र में अपनी आमिट छाप छोड़ने का जो सिलसिला शुर किया वह लगातार जारी है। आज के दौर में कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं जहाँ महिलाओं की सशक्त उपस्थिति नहीं महसूस की जा रही हो। वर्तमान दौर में राजनीति, प्रशासन, सेना, शिक्षण, चिकित्सा, विज्ञान, तकनीक, उद्योग, व्यापार, समाजसेवा आदि प्रमुख क्षेत्रों में महिलाओं ने अपनी प्रतिभा और क्षमता के आधार पर अपनी राह खुद बनाई है। कई क्षेत्रों में तो कड़ी स्पर्धा और कठिन चुनौती के बावजूद महिलाओं ने अपना शीर्ष मुकाम बनाया है। भारत की इंदिरा नूई, नैनालाल किद्वाई, चंदा कोचर आदि महिलाओं ने सफलता के जिस शिखर को छुआ है वे सभी कड़ी स्पर्धावाले क्षेत्र माने जाते हैं।

तेजी से बदलते सामाजिक परिवेश तथा महिला पुरुष समानता के इस दौर में महिलाएँ अब घर की दहलीज लाँघकर बाहर आ चुकी हैं। प्राय: हर क्षेत्र में महिलाओं की उपस्थिति और भागीदारी नजर आती है। शिक्षा ने महिलाओं को

अपने आधिकारों के प्रति जागरक बनाया है। अब महिलाएँ भी अपने करियर के प्रति सचेत हैं। महिला जागरण की इस नवचेतना के साथ-साथ महिलाओं के प्रति अत्याचार और अपराध के मामले भी बढ़े हैं। महिलाओं की सामाजिक सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए बहुत सारे कानून बने हैं और आवश्यकतानुसार उसमें समय-समय पर संशेधन भी किये जाते रहे हैं। महिलाओं को सामाजिक सुरक्षा दिलाने में महिला पत्रकारिता की अहम भूमिका रही है। महिला पत्रकारिता की आज अलग से जररत ही इसलिए हैं कि उसमें महिलाओं से जुड़े हर पहलू पर गौर किया जाए और महिलाओं के सर्वांगीण विकास में यह महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सके। महिला पत्रकारिता की सार्थकता महिला सशक्तिकरण के उद्देश्य से जुड़ी है।

कुछ प्रमुख महिला पत्रकार: मृणाल पांडे, विमला पाटील, बरखा दत्त, सीमा मुस्तफा, तवलीन सिंह, मीनल बहोल, सत्या शरण, दीना वकील, सुनीता ऐरन, कुमुद संघवी चावरे, स्वेता सिंह, पूर्णिमा मिश्रा, मीमांसा मल्लिक, अंजना ओम कश्यप, नेहा बाथम, मिनाक्षी कंडवाल आदि। आज भारत में पत्रकारिता के क्षेत्र में महिला पत्रकारों के आने से देश के हर लड़की को अपने जीवन में आगे बढ़ने की प्रेरणा मिल रही है।

बाल-पत्रकारिता

बाल-मन स्वभावत: जिज्ञासु और सरल होता है। जीवन की यह वह अवस्था है, जिसमें बच्चा अपने माता-पिता, शिक्षक और चारो तरफ के परिवेश से ही सीखता है। यही वह उम्र होती है, जिसमें बच्चे के मास्तिष्क पर किसी भी घटना या सूचना की आमिट छाप पड़ जाती है। बच्चे के आस-पास की परिवेश उसके व्यक्तित्त्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

एक समय था जब बच्चों को परीकथाओं, लोककथाओं, पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक कथाओं के माध्यमसे बहलाने-फुसलाने के साथ-साथ उनका ज्ञानवर्द्धन किया जाता था। इन कथाओं का बच्चों के चारित्रिक विकास पर भी गहरा प्रभाव होता था।

आज संचार क्रांति के इस युग में बच्चों के लिए सूचनातंत्र काफी विस्तृत और अनंत हो गया है। कंप्यूटर और इंटरनेट तक उनकी पहुँच ने उनकी जिज्ञास को असीमित बना दिया है। ऐसे में इस बात की भी आशंका और गुंजाइश बनी रहती है कि बच्चों तक वे सूचनाएँ भी पहुँच सकती हैं, जिससे उनके बालमन

के भटकाव या विकृती भी संभव है। ऐसी स्थिती में बाल पत्रकारिता की सार्थक सोच और दिशा बच्चों को सही दिशा की ओर अग्रसर कर सकती है। बाल पत्रकारिता की दिशा में प्रिंट और विजुअल मीडिया (दृश्य-माध्यम) के साथ-साथ इंटरनेट की भी अहम और जिम्मेदार भूमिका हो सकती है।

आर्थिक पत्रकारिता

कोई भी ऐसा व्यापारिक या आर्थिक व्यवहार जो व्यक्तियों, संस्थानों, राज्यों या देशों के बीच होता है, वह आर्थिक पत्रकारिता के सरोकारों में शामिल है।

आर्थिक पत्रकारिता आर्थिक व्यवहार या अर्थ-व्यवस्था के व्यापक गुण-दोषों की समीक्षा और विवेचना की धुरी पर केंद्रित है। जिस प्रकार पत्रकारिता का उद्देश्य किसी भी व्यवस्था के गुण-दोषों को व्यापक आधार पर प्रचारित प्रसारित करना है, उसी प्रकार आर्थिक पत्रकारिता की भूमिका तभी सार्थक है जब वह अर्थ व्यवस्था के हर पहलू पर सूक्ष्म नजर रखते हुए उसका विश्लेषण करे और समाज पर पड़ने वाले उसके प्रभावों का प्रचार-प्रसार करने में सक्षम हो। अर्थ-व्यवस्था के मामले में आर्थिक पत्रकारिता व्यवस्था और उपभोक्ता के बीच सेतु का काम करने के साथ-साथ एक सजग प्रहरी की भूमिका भी निभाती है।

आर्थिक उदारीकरण और विभिन्न देशों के आपसी व्यापारिक संबंधों ने पूरी दुनिया के आर्थिक परिदृश्य को बहुत व्यापक बना दिया है। आज किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था बहुत कुछ अंतरराष्ट्रीय व्यापार संबंधों पर निर्भर हो गई है। दुनिया के किसी कोने में मची आर्थिक हलचल या उथल-पुथल अन्य देशों की अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करने लगी है। सोने और चांदी जैसी बहुमूल्य धातुओं तथा कच्चे तेल की कीमतों के उतार-चढ़ाव से आज दुनिया की कोई भी अर्थ व्यवस्था अछूती नहीं रही।

यूरो, डॉलर, पाउंड, येन जैसी मुद्रायें तथा सोना, चाँदी और कच्चा तेल आज दुनिया की प्रमुख अर्थ व्यवस्थाओं की नब्ज बन चुकी हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आज भले ही सभी देश अपनी अर्थव्यवस्थाओं के नियामक और नियंत्रक हों किन्तु विश्व की आर्थिक हलचलों से वे अछूते नहींहैं। हम कह सकते हैं कि आर्थिक परिदृश्य पर पूरा विश्व व्यापक तौर पर एक बाजार नजर आता है। सभी देशों की अर्थ व्यवस्थाएँ आज इसी वैश्विक बाजार की

गतिविधियों से निर्धारित होती हैं। मजबूत अर्थव्यवस्था वाले देशों में होनेवाले महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिवर्तनों से दुनिया के प्रमुख देश भी प्रभावित होते है। आर्थिक पत्रकारिता के लिए विश्व का आर्थिक परिवेश एक चुनौती है। आर्थिक पत्रकारिता का यह दायित्व है कि विश्व की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करने वाले विभिन्न कारकों का विश्लेषण वह लगातार करती रहे तथा उनके गुण-दोषों के आधार पर एहतियाती उपयों की चर्चा आर्थिक पत्रकारिता का व्यापक हिस्सा बने।

आर्थिक पत्रकारिता के समक्ष एक बड़ी चुनौती करवंचना, कालाधन और जाली नोटों की समस्या है। कालाधन आज विकसित और विकासशील देशों के लिए एक बड़ी समस्या बना हुआ है। काला धन भ्रष्टाचार से उपजता है और भ्रष्टाचार को ही बढ़ाता है। भ्रष्टाचार की व्यापकता अंततः देश के विकास में बाधक बनती है। कालाधन और आर्थिक अपराधों को उजागर करने वाली खबरों के व्यापक प्रचार प्रसार की जिम्मेदारी भी आर्थिक पत्रकारिता का हिस्सा है।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में हमारी अर्थ व्यवस्था काफी कुछ कृषि और कृषि उत्पादों पर निर्भर है। भारत में तेजी से विकसित हो रहे नगरों और महानगरों के बावजूद आज भी देश की लगभग 70 प्रतिशत आबादी गाँवों में ही बसती है। देश के बजट प्रावधानों का एक बड़ा हिस्सा कृषि एवं ग्रामीण विकास के मद में खर्च होता है। आर्थिक पत्रकारिता का एक महत्त्वपूर्ण आयाम कृषि एवं कृषि आधारित योजनाओं तथा ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों का कवरेज भी है। ग्रामीण विकास के बिना देश का विकास और आर्थिक पत्रकारिता का उद्देश्य अधूरा ही रहेगा। व्यापार के परंपरागत क्षेत्रों के अलावा रिटेल, बीमा, संचार, विज्ञान एवं तकनीक जैसे व्यापार के आधुनिक क्षेत्रों ने आर्थिक पत्रकारिता को व्यापक क्षितिज और नया आयाम दिया है। देश की अर्थव्यवस्था को सही दिशा देकर उसे सुचार और सुद्दढ़ बनाना आर्थिक पत्रकारिता के लिए चुनौती तो है ही उसकी सार्थकता भी इसी में निहित है।

प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ

इकॉनॉमिक टाईम्स, फाइनेंशियल एक्सप्रेस, बिजनेस स्टैण्डर्ड, बिजनेस लाइन, मनी कंट्रोल, इकॉनामिक वेल्थ, मिंट, व्यापार आदि–

1. पत्रकारिता के अन्य रूप
2. ग्रामीण पत्रकारिता

3. व्याख्यात्मक पत्रकारिता
4. विकास पत्रकारिता
5. संदर्भ पत्रकारिता
6. संसदीय पत्रकारिता
7. रेडियो पत्रकारिता
8. दूरदर्शन पत्रकारिता
9. फोटो पत्रकारिता
10. विधि पत्रकारिता
11. अंतरिक्ष पत्रकारिता
12. सर्वादय पत्रकारिता
13. चित्रपट पत्रकारिता
14. वॉचडॉग पत्रकारिता
15. पीत पत्रकारिता
16. पेज थी पत्रकारिता
17. एडवोकेसी पत्रकारिता
18. कृषी पत्रकारिता।

13

हिन्दी नाटक

हिंदी में नाटकों का प्रारंभ भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है। उस काल के भारतेन्दु तथा उनके समकालीन नाटककारों ने लोक चेतना के विकास के लिए नाटकों की रचना की इसलिए उस समय की सामाजिक समस्याओं को नाटकों में अभिव्यक्त होने का अच्छा अवसर मिला।

जैसाकि कहा जा चुका है, हिन्दी में अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच के निर्माण का श्रीगणेश आगाहसन 'अमानत' लखनवी के 'इंदर सभा' नामक गीति-रूपक से माना जा सकता है। पर सच तो यह है कि 'इंदर सभा' की वास्तव में रंगमंचीय कृति नहीं थी। इसमें शामियाने के नीचे खुला स्टेज रहता था। नौटंकी की तरह तीन ओर दर्शक बैठते थे, एक ओर तख्त पर राजा इंदर का आसन लगा दिया जाता था, साथ में परियों के लिए कुर्सियाँ रखी जाती थीं। साजिंदों के पीछे एक लाल रंग का पर्दा लटका दिया जाता था। इसी के पीछे से पात्रों का प्रवेश कराया जाता था। राजा इंदर, परियाँ आदि पात्र एक बार आकर वहीं उपस्थित रहते थे। वे अपने संवाद बोलकर वापस नहीं जाते थे।

उस समय नाट्यारंगन इतना लोकप्रिय हुआ कि अमानत की 'इंदर सभा' के अनुकरण पर कई सभाएँ रची गई, जैसे 'मदारीलाल की इंदर सभा', 'दर्याई इंदर सभा', 'हवाई इंदर सभा' आदि। पारसी नाटक मंडलियों ने भी इन सभाओं और मजलिसेपरिस्तान को अपनाया। ये रचनाएँ नाटक नहीं थी और न ही इनसे हिन्दी का रंगमंच निर्मित हुआ। इसी से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इनको 'नाटकाभास'

कहते थे। उन्होंने इनकी पैरोडी के रूप में 'बंदर सभा' लिखी थी bhartendu harishchandra

हिन्दी रंगमंच और भारतेन्दु हरिश्चंद्र

इस प्रकार भारतेन्दु से पूर्व हिन्दी रंगमंच और नाट्य-रचना के व्यावसायिक तथा अव्यावसायिक साहित्यिक प्रयास तो हुए पर हिन्दी का वास्तविक और स्थायी रंगमंच निर्मित और विकसित नहीं हो पाया था। सन् 1850 ई. से सन् 1868 ई. तक हिन्दी रंगमंच का उदय और प्रचार-प्रसार तो हुआ पर उसका सुरुचिपूर्ण विकास और स्थायी निर्माण नहीं हो सका था। पारसी नाटक मंडलियों के अतिरिक्त कुछ और भी छुटपुट व्यावसायिक मंडलियाँ विभिन्न स्थानों पर निर्मित हुईं पर साहित्यिक सुरुचि सम्पन्नता का उनमें भी अभाव ही रहा।

व्यावसायिक मंडलियों के प्रयत्न में हिन्दी रंगमंच की जो रूपरेखा बनी थी, प्रचार और प्रसार का जो काम हुआ था तथा इनके कारण जो कुछ अच्छे नाटककार हिन्दी को मिले थे-उस अवसर और परिस्थिति का लाभ नहीं उठाया जा सका था। भारतेन्दु के नाटक लिखने की शुरुआत बंगला के विद्यासुंदर (1867) नाटक के अनुवाद से होती है। यद्यपि नाटक उनके पहले भी लिखे जाते रहे किंतु नियमित रूप से खड़ीबोली में अनेक नाटक लिखकर भारतेन्दु ने ही हिंदी नाटक की नींव को सुदृढ़ बनाया। भारतेन्दु के पूर्ववर्ती नाटककारों में रीवा नरेश विश्वनाथ सिंह (1846-1911) के बृजभाषा में लिखे गए नाटक 'आनंद रघुनंदन' और गोपालचंद्र के 'नहुष' (1841) को अनेक विद्वान हिंदी का प्रथम नाटक मानते हैं। यहाँ यह जानना रोचक हो सकता है कि गोपालचंद्र, भारतेन्दु हरिश्चंद्र के पिता थे।

हिन्दी के विशुद्ध साहित्यिक रंगमंच और नाट्य-सृजन की परम्परा की दृष्टि से सन् 1868 ई. का बड़ा महत्त्व है। भारतेन्दु के नाटक-लेखन और मंचीकरण का श्रीगणेश इसी वर्ष हुआ। इसके पूर्व न तो पात्रों के प्रवेश-गमन, दृश्य-योजना आदि से युक्त कोई वास्तविक नाटक हिन्दी में रचा गया था। भारतेन्दु के पिता गोपालचन्दर चित 'नहुष' तथा महाराज विश्वनाथसिंह रचित 'आनंदरघुनंदन' भी पूर्ण नाटक नहीं थे, न पर्दों और दृश्यों आदि की योजना वाला विकसित रंगमंच ही निर्मित हुआ थाय नाट्यारंगन के अधिकतर प्रयास भी अभी तक मुंबई आदि अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही हुए थे और भाषा का स्वरूप भी हिन्दी-उर्दू का मिश्रित खिचड़ी रूप ही था।

3 अप्रैल सन् 1868 को पं. शीतलाप्रसाद त्रिपाठी रचित श्जानकी मंगल' नाटक का अभिनय 'बनारस थियेटर' में आयोजित किया था। कहते हैं कि जिस लड़के को लक्ष्मण का अभिनय पार्ट करना था वह अचानक उस दिन बीमार पड़ गया। लक्ष्मण के अभिनय की समस्या उपस्थित हो गई और उस दिन युवक भारतेन्दु स्थिति को न सँभालते तो नाट्यायोजन स्थगित करना पड़ता। भारतेन्दु ने एक-डेढ़ घंटे में ही न केवल लक्ष्मण की अपनी भूमिका याद कर ली अपितु पूरे 'जानकी मंगल' नाटक को ही मस्तिष्क में जमा लिया। भारतेन्दु ने अपने अभिजात्य की परवाह नहीं की।

उन दिनों उच्च कुल के लोग अभिनय करना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं समझते थे। इस प्रकार इस नाटक से भारतेन्दु ने रंगमंच पर सक्रिय भाग लेना आरम्भ किया। इसी समय-उन्होंने नाट्य-सृजन भी आरम्भ किया।

भारतेन्दु ने सन् 1868 ई. से सन् 1885 ई. तक अपने स्वल्प और अत्यन्त व्यस्त जीवन से शेष 17 वर्षों में अनेक नाटकों का सृजन किया, अनेक नाटकों में स्वयं अभिनय किया, अनेक रंगशालाएँ निर्मित कराईं और हिन्दी रंगमंच के स्थापन का स्तुत्य प्रयास किया। यही नहीं, भारतेन्दु के अनेक लेखकों और रंगकर्मियों को नाट्य-सृजन और अभिनय के लिए प्रेरित किया। भारतेन्दु के सदुद्योग एवं प्रेरणा से काशी, प्रयाग, कानपुर आदि कई स्थानों पर हिन्दी का अव्यावसायिक साहित्यिक रंगमंच स्थापित हुआ।

भारतेन्दु के ही जीवन काल में ये कुछ रंग-संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थीं–

(1) काशी में भारतेन्दु के संरक्षण में नेशनल थियेटर की स्थापना हुई। भारतेन्दु अपना 'अंधेर नगरी' प्रहसन इसी थियेटर के लिए एक ही रात में लिखा था,

(2) प्रयाग में 'आर्य नाट्यसभा' स्थापित हुई जिसमें लाला श्रीनिवासदास का 'रंगधीर प्रेममोहिनी' प्रथम बार अभिनीत हुआ था।

(3) कानपुर में भारतेन्दु के सहयोगी पं. प्रतापनारायण मिश्र ने हिन्दी रंगमंच का नेतृत्व किया और भारतेन्दु के 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी' आदि नाटकों का अभिनय कराया।

इनके अतिरिक्त बलिया, डुमराँव, लखनऊ आदि उत्तर प्रदेश के कई स्थानों और बिहार प्रदेश में भी हिन्दी रंगमंच और नाट्य-सृजन की दृढ़ परम्परा का निर्माण हुआ।

प्रेरणा-स्रोत

भारतेन्दु और उनके सहयोगी लेखकों ने नाट्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ-कहाँ से प्राप्त की, यह प्रश्न पर्याप्त महत्त्व का है। इस प्रश्न का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है, जब हम देखते हैं कि हिन्दी में नाट्य-रचना का सूत्रपात भारतेन्दु की ही नव-प्रवर्तनकारी प्रतिभा से हुआ। यद्यपि भारतेन्दु से पूर्व नाट्य-शैली में कुछ सृजन-प्रयास हुए थे, पर नाटक के वास्तविक रूप का उद्भव सर्वप्रथम भारतेन्दु की ही लेखिनी से हुआ। अस्तु, जब हिन्दी में इस साहित्यि-विधा का अभाव था, तो भारतेन्दु ने नाट्य-सृजन की प्रेरणा कहाँ से ली?

साहित्यिक प्रेरणा

साहित्यिक प्रेरणा की खोज की जाय तो कहा जा सकता है कि भारतेन्दु ने संस्कृत तथा प्राकृत की पूर्ववर्ती भारतीय नाट्य-परम्परा और बँगला की समसामयिक नाट्यधारा के साथ अंग्रेजी प्रभाव-धारा से प्रेरणा ली। यद्यपि हमारे यहाँ भास, कालीदास, भवभूति, शूद्रक आदि पूर्ववर्ती संस्कृत नाटककारों की समृद्ध नाट्य-परम्परा विद्यमान थी, पर यह खेद की बात है कि भारतेन्दु बाबू ने उस समृद्ध संस्कृत नाट्य-परम्परा को अपने सम्मुख रखा। प्राकृत-अपभ्रंश काल में अर्थात् ईसा की 9वीं-10 वीं शताब्दी के बाद संस्कृत नाटक ह्रासोन्मुख हो गया था। प्राकृत और अपभ्रंश में भी नाट्य-सृजन वैसा उत्कृष्ट नहीं हुआ जैसा पूर्ववर्ती संस्कृत-नाट्य-साहित्य था। अतः भारतेन्दु के सामने संस्कृत-प्राकृत की यह पूर्ववर्ती ह्रासगामी परम्परा रही। संस्कृत के मुरारि, राजशेखर, जयदेव आदि की क्रमशः 'अनर्घराघव', 'बालरामायण', 'प्रसन्नराघव' आदि रचनाएँ ही भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी लेखकों का आदर्श बनीं। इनमें न कथ्य- या विषय-वस्तु का वह गाम्भीर्य था, जो कालिदास आदि की अमर कृतियों में था, न उन जैसी शैली-शिल्प की श्रेष्ठता थी। यही कारण है कि भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी नाटक सर्वथा निष्प्राण रहा और यद्यपि भारतेन्दु ने उसमें सामयिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की झलक पैदा कर नवोन्मेष और किंचित् सप्राणता का प्रयास किया, पर उनके प्रयत्नों के बावजूद भारतेन्दुकालीन हिन्दी नाटक कथ्य और शिल्प दोनों की ही दृष्टि से शैशव काल में ही पड़ा रहा, विशेष उत्कर्ष को प्राप्त नहीं हुआ।

भारतेन्दु के पश्चात्

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सत्यप्रयत्नों से हिन्दी के साहित्यिक रंगकर्म और नाट्य-लेखन की दृढ़ परम्परा चली। पर सन् 1885 ई. में भारतेन्दु के निधन के पश्चात् वह उत्साह कुछ मन्द पड़ गया। 19 वीं शती के अन्तिम दशक में फिर कुछ छुटपुट प्रयास हुए। कई नाटक मंडलियों की स्थापना हुई, जैसे प्रयाग की 'श्रीरामलीला नाटक मंडली' तथा 'हिन्दी नाट्य समिति', भारतेन्दु जी के भतीजों- श्रीकृष्णचन्द्र और श्री ब्रजचन्द्र-द्वारा काशी में स्थापित 'श्री भारतेन्दु नाटक मंडली' तथा 'काशी नागरी नाटक मंडली।' इन नाटक मंडलियों के प्रयत्न से उस समय 'महाराणा प्रताप', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'महाभारत', 'सुभद्राहरण', 'भीष्मपितामह', 'बिल्व मंगल', 'संसार स्वप्न', 'कलियुग' आदि अनेक नाटकों का अभिनय हुआ।

पर ये प्रयास भी बहुत दिन नहीं चल सके। धनाभाव तथा सरकारी और गैर-सरकारी प्रोत्साहन के अभाव में साहित्यिक रंगमंच की स्थापना के प्रयत्न कालान्तर में सब सो गए। इन छुटपुट प्रयासों के अन्तर्गत तत्कालीन साहित्यिक नाटकों का अभिनय हुआ और हिन्दी में कुछ अच्छे रंगमंचानुकूल साहित्यिक नाटकों की रचना हुई। पारसी नाटक कंपनियों के दुष्प्रभाव का तो यह प्रयास अच्छा जवाब था, किन्तु यह प्रयास था बहुत ही स्वल्प। दूसरे, इस साहित्यिक रंगान्दोलन से भी हिन्दी का रंगमंच विशेष विकसित नहीं हुआ, क्योंकि यह रंगमंच पारसी रंगमंच से विशेष भिन्न और विकसित नहीं था- वही पर्दों की योजना, वैसा ही दृश्य-विधान और संगी आदि का प्रबंध रहता था। वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न घूमने वाले रंगमंच का विकास 19वीं शती में नहीं हो सका था। ध्वनि-यन्त्र आदि की स्थापना के प्रयास भी हिन्दी रंगमंच के विकास की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण योग नहीं दे पाए। हाँ, इनका यही लाभ हुआ की पारसी नाटक कम्पनियों के भ्रष्ट प्रचार को कुछ धक्का लगा तथा कुछ रंगमंचीय हिन्दी नाटक प्रकाश में आए।

बीसवीं शताब्दी

20 वीं शताब्दी के तीसरे दशक में सिनेमा के आगमन ने पारसी रंगमंच को सर्वथा समाप्त कर दिया। पर अव्यावसायिक रंगमंच इधर-उधर नए रूपों में जीवित रहा। अब हिन्दी का रंगमंच केवल स्कूलों और कॉलेजों में ही है। यह रंगमंच बड़े नाटकों की अपेक्षा एकांकियों को अधिक अपनाकर चला। इसके दो

मुख्य कारण हैं- एक तो आज का दर्शक कम-से-कम समय में अपने मनोरंजन की पूर्ति करना चाहता है, दूसरे, आयोजकों के लिए भी बड़े नाटक का प्रदर्शन यहां बहुत कठिनाई उत्पन्न करता है वहाँ एकांकी का प्रदर्शन सरल है-रंगमंच, दृश्य-विधान आदि एकांकी में सरल होते हैं, पात्र भी बहुत कम रहते हैं। अतः सभी शिक्षालयों, सांस्कृतिक आयोजनों आदि में आजकल एकांकियों का ही प्रदर्शन होता है। डॉ. राम कुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्द दास, जगदीशचन्द्र माथुर आदि हमारे अनेक नाटककारों ने सुन्दर अभिनय-उपयोगी एकांकी नाटकों तथा दीर्घ नाटकों की रचना की है।

प्रसाद जी ने उच्चकोटि के साहित्यिक नाटक रच कर हिन्दी नाटक साहित्य को समृद्ध किया था, पर अनेक नाटक रंगमंच पर कुछ कठिनाई उत्पन्न करते थे। फिर भी कुछ काट-छाँट के साथ प्रसाद जी के प्रायः सभी नाटकों का अभिनय हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच पर हुआ। जार्ज बर्नार्ड शॉ, इब्सन आदि पाश्चात्य नाटककारों के प्रभाव से उपर्युक्त प्रसादोत्तर आधुनिक नाटककारों ने कुछ बहुत सुन्दर रंगमंचीय नाटकों की सृष्टि की। इन नाटककारों के अनेक पूरे नाटक भी रंगमंचों से प्रदर्शित हुए।

स्वतंत्रता के पश्चात

स्वतंत्रता के पाश्चात् हिन्दी रंगमंच के स्थायी निर्माण की दिशा में अनेक सरकारी-गैर-सरकारी प्रयत्न हुए हैं। सरकार की ओर से भी कई गैर-सरकारी संस्थाओं को रंगमंच की स्थापना के लिए आर्थिक सहायता मिली है। पुरुषों के साथ अब स्त्रियाँ भी अभिनय में भाग लेने लगी हैं। स्कूलों-कॉलेजों में कुछ अच्छे नाटकों का अब अच्छा प्रदर्शन होने लगा है।

अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से संबद्ध कुछ अच्छे स्थायी रंगमंच बने हैं, जैसे थिएटर सेंटर के तत्त्वावधान में दिल्ली, बंबई, कलकत्ता, इलाहाबाद, हैदराबाद, बंगलौर, शान्तिनिकेतन आदि स्थानों पर स्थायी रंगमंच स्थापित हैं। केन्द्रीय सरकार भी इस ओर पर्याप्त ध्यान दे रही है। पर इन सर्वभाषायी रंगमंचों पर हिन्दी भिखारिणी-सी ही प्रतीत होती है।

केन्द्रीय सरकार ने संगीत नाटक अकादमी की स्थापना की है, जिसमें अच्छे नाटककारों और कलाकारों को प्रोत्साहन दिया जाता है।

व्यावसायिक रंगमंच के निर्माण के भी पिछले दिनों कुछ प्रयत्न हुए हैं। प्रसिद्ध कलाकार स्वर्गीय पृथ्वीराज कपूर ने कुछ वर्ष हुए पृथ्वी थियेटर की

स्थापना की थी। उन्होंने कई नाटक प्रस्तुत किए हैं, जैसे 'दीवार', 'गद्दार', 'पठान', 'कलाकार', 'आहूति' आदि। धन की हानि उठाकर भी कुछ वर्ष इस कम्पनी ने उत्साहपूर्वक अच्छा कार्य किया। पर इतने प्रयास पर भी बंबई, दिल्ली या किसी जगह हिन्दी का स्थायी व्यावसायिक रंगमंच नहीं बन सका है। इस मार्ग में कठिनाइयाँ हैं।

प्रमुख हिन्दी नाटकार

1. भारतेंदु हरिश्चंद्र
3. जयशंकर प्रसाद
3. कमलेश्वर
4. जगदीशचंद्र माथुर
5. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
6. रामकुमार वर्मा
7. मोहन राकेश
8. स्वदेश दीपक
9. नाग बोडस
10. हरिकृष्ण प्रेमी।

14

छायावादी युग

छायावादी युग (1920–1936) प्राय: 'द्विवेदी युग' के बाद के समय को कहा जाता है। बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध छायावादी कवियों का उत्थान काल था। इस युग को जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और सुमित्रानंदन पंत जैसे छायावादी प्रकृति उपासक–सौन्दर्य पूजक कवियों का युग कहा जाता है। 'द्विवेदी युग' की प्रतिक्रिया का परिणाम ही 'छायावादी युग' है। इस युग में हिन्दी साहित्य में गद्य गीतों, भाव तरलता, रहस्यात्मक और मर्मस्पर्शी कल्पना, राष्ट्रीयता और स्वतंत्र चिन्तन आदि का समावेश होता चला गया। इस समय की हिन्दी कविता के अंतरंग और बहिरंग में एकदम परिवर्तन हो गया। वस्तु निरूपण के स्थान पर अनुभूति निरूपण को प्रधानता प्राप्त हुई थी। प्रकृति का प्राणमय प्रदेश कविता में आया। जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' सुमित्रानन्दन पंत और महादेवी वर्मा 'छायावादी युग' के चार प्रमुख स्तंभ माने जाते हैं।

मुख्य कवि और उनकी रचनाएँ

जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा इस युग के चार प्रमुख स्तंभ कहे जाते हैं। 'छायावाद' का केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिन्दी काव्य क्षेत्र में चलने वाली महादेवी वर्मा ही हैं। रामकुमार वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, हरिवंशराय बच्चन और रामधारी सिंह

दिनकर को भी 'छायावाद' ने प्रभावित किया। किंतु रामकुमार वर्मा आगे चलकर नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हुए, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रवादी धारा की ओर रहे, बच्चन ने प्रेम के राग को मुखर किया और दिनकर जी ने विद्रोह की आग को आवाज दी। अन्य कवियों में हरिकृष्ण 'प्रेमी' जानकी वल्लभ शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट, नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इनकी रचनाएँ निम्नानुसार हैं-

जयशंकर प्रसाद (1889-1936 ई.) के काव्य संग्रह-

शचित्रधार' (ब्रज भाषा में रचित कविताएँ), 'कानन-कुसुम' 'महाराणा का महत्त्व' 'करुणालय' 'झरना' 'आंसू' 'लहर' और 'कामायनी'।

सुमित्रानंदन पंत (1900-1977ई.) के काव्य संग्रह-

'वीणा' 'ग्रंथि' 'पल्लव' 'गुंजन' 'युगांत' 'युगवाणी' 'ग्राम्या" स्वर्ण-किरण' 'स्वर्ण-धूलि' 'युगान्तर' 'उत्तरा' 'रजत-शिखर' 'शिल्पी' 'प्रतिमा" सौवर्ण' 'वाणी' 'चिदंबरा' 'रश्मिबंध' 'कला और बूढ़ा चाँद' 'अभिषेकित' 'हरीश सुरी सुनहरी टेर' 'लोकायतन' 'किरण वीणा'।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' (1898-1961 ई.) के काव्य-संग्रह-

'अनामिका' 'परिमल' 'गीतिका' 'तुलसीदास' 'आराधना' 'कुकुरमुत्ता' 'अणिमा' 'नए पत्ते' 'बेला' 'अर्चना'।

महादेवी वर्मा (1907-1988 ई.) की काव्य रचनाएँ-

'रश्मि' शनिहार' 'नीरजा' 'सांध्यगीत' 'दीपशिखा' 'यामा'।

डॉ. रामकुमार वर्मा की काव्य रचनाएँ-

'अंजलि' 'रूपराशि' 'चितौड़ की चिता' 'चंद्रकिरण' 'अभिशाप' 'निशीथ' 'चित्ररेखा' 'वीर हमीर' 'एकलव्य'।

हरिकृष्ण श्प्रेमी' की काव्य रचनाएँ-

'आखों में' 'अनंत के पथ पर' 'रूपदर्शन' 'जादूगरनी' 'अग्निगान' 'स्वर्णविहान'।

काव्य की प्रवृत्तियाँ

वैयक्तिकता

प्रकृति-सौंदर्य और प्रेम की व्यंजना

श्रृंगारिकता

रहस्यानुभूति

तत्त्व चिंतन
वेदना और करुणा की विवृत्ति
मानवतावादी दृष्टिकोण
नारी के प्रति नवीन दृष्टिकोण
आदर्शवाद
स्वच्छंदतावाद
देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भावना
प्रतीकात्मकता
चित्रात्मक भाषा एवं लाक्षणिक पदावली
गेयता
अलंकार-विधान

ब्रज भाषा का काव्य

'छायावादी युग' में कवियों का एक वर्ग ऐसा भी था, जो सूरदास, तुलसीदास, सेनापति, बिहारी और घनानंद जैसी समर्थ प्रतिभा संपन्न काव्य-धारा को जीवित रखने के लिए ब्रजभाषा में काव्य रचना कर रहे थे। 'भारतेंदु युग' में जहाँ ब्रजभाषा का काव्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया, वहीं छायावाद आते-आते ब्रजभाषा में गौण रूप से काव्य रचना लिखी जाती रहीं। इन कवियों का मत था कि ब्रजभाषा में काव्य की लंबी परम्परा ने उसे काव्य के अनुकूल बना दिया है। छायावादी युग में ब्रजभाषा में काव्य रचना करने वाले कवियों में रामनाथ जोतिसी, रामचंद्र शुक्ल, राय कृष्णदास, जगदंबा प्रसाद मिश्र 'हितैषी' दुलारे लाल भार्गव, वियोगी हरि, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' अनूप शर्मा, रामेश्वर 'करुण' किशोरीदास वाजपेयी, उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' प्रमुख हैं।

रामनाथ जोतिसी की रचनाओं में 'रामचंद्रोदय' मुख्य है। इसमें रामकथा को युग के अनुरूप प्रस्तुत किया गया है। इस काव्य पर केशव की श्रामचंद्रिका' का प्रभाव लक्षित होता है। विभिन्न छंदों का सफल प्रयोग हुआ है।

रामचंद्र शुक्ल, जो मूलतः आलोचक थे, ने 'एडविन आर्नल्ड' के आख्यान काव्य 'लाइट ऑफ एशिया' का 'बुद्धचरित' शीर्षक से भावानुवाद किया। शुक्ल जी की भाषा सरल और व्यावहारिक है।

राय कृष्णदास कृत 'ब्रजरस' जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी' द्वारा रचित 'कवित्त-सवैये' और दुलारेलाल भार्गव की 'दुलारे-दोहावली' इस काल की प्रमुख व उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

वियोगी हरि की 'वीर सतसई' में राष्ट्रीय भावनाओं की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अनेक स्फुट रचनाएँ लिखीं। लेकिन इनका ब्रजभाषा का वैशिष्टय 'ऊर्मि्मला' महाकाव्य में लक्षित होता है, जहाँ इन्होंने उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्रण किया है।

अनूप शर्मा के चम्पू काव्य 'फेरि-मिलिबो' (1938) में कुरुक्षेत्र में राधा और कृष्ण के पुनर्मिलन का मार्मिक वर्णन है।

रामेश्वर 'करुण' की 'करुण-सतसई' (1930) में करुणा, अनुभूति की तीव्रता और समस्यामूलक अनेक व्यंग्यों को देखा जा सकता है।

किशोरी दास वाजपेयी की 'तरंगिणी' में रचना की दृष्टि से प्राचीनता और नवीनता का सुंदर समन्वय देखा जा सकता है।

उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' की रचनाओं में भी भाषा और संवेदना की दृष्टि से नवीनता दिखाई पड़ती है।

इन रचनाओं में नवीनता और छायावादी काव्य की सूक्ष्मता प्रकट हुई है, यदि इस भाषा का काव्य परिमाण में अधिक होता तो यह काल ब्रजभाषा का छायावाद साबित होता।

15

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल 'भारतीय इतिहास' के बदलते हुए स्वरूप से काफी प्रभावित था। श्भारतीय स्वतंत्रता संग्राम' और राष्ट्रीयता की भावना का प्रभाव भी साहित्य में आ गया था। भारत में औद्योगीकरण का प्रारंभ होने लगा था। आवागमन के साधनों का भी तेजी से विकास हुआ। अंग्रेजी और पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव बढ़ा और जीवन में बदलाव आने लगा। ईश्वर के साथ-साथ मानव को महत्त्व दिया जाने लगा था। भावना के साथ-साथ विचारों को पर्याप्त प्रधानता मिली। पद्य के साथ ही गद्य का भी पर्याप्त विकास हुआ और छापेखाने के आते ही साहित्य के संसार में एक नयी क्रांति का बीजारोपण हुआ।

गद्य का विकास

आधुनिक हिन्दी गद्य का विकास केवल हिन्दी भाषी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रह गया था। पूरे देश में और हर प्रदेश में हिन्दी की लोकप्रियता व्याप्त होने लगी थी और अनेक अन्य भाषी लेखकों ने भी हिन्दी में साहित्य की रचना करके इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। हिन्दी गद्य के विकास को निम्नलिखित चरणों में विभाजित किया जा सकता है-

भारतेन्दु पूर्व युग – (1800 ई. से 1850 ई. तक)
भारतेन्दु युग – (1850 ई. से 1900 ई. तक)
द्विवेदी युग – (1900 ई. से 1920 ई. तक)
रामचन्द्र शुक्ल तथा प्रेमचन्द युग – (1920 ई. से 1936 ई. तक)
अद्यतन युग – (1936 ई. से आज तक)

भारतेन्दु पूर्व युग

हिन्दी में गद्य का विकास 19वीं शताब्दी के आसपास हुआ। इस विकास में कलकत्ता (आधुनिक कोलकाता) के 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। इस कॉलेज के दो विद्वानों लल्लूलाल तथा सदल मिश्र ने गिल क्राइस्ट के निर्देशन में क्रमशः 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' नामक पुस्तकें तैयार कीं। इसी समय सदासुखलाल ने 'सुखसागर' तथा मुंशी इंशा अल्ला खघँ ने 'रानी केतकी की कहानी' की रचना की। इन सभी ग्रंथों की भाषा में उस समय प्रयोग में आने वाली खड़ी बोली को स्थान मिला। आधुनिक खड़ी बोली के गद्य के विकास में विभिन्न धर्मों की परिचयात्मक पुस्तकों का खूब सहयोग रहा, जिसमें ईसाई धर्म का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था। बंगाल के राजा राममोहन राय ने 1815 ई. में 'वेदांतसूत्र' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया। इसके बाद उन्होंने 1829 में 'बंगदूत' नामक पत्र हिन्दी में निकाला। इसके पहले ही 1826 में कानपुर के पं. जुगल किशोर ने हिन्दी का पहला समाचार पत्र 'उदंत मार्तंड' कलकत्ता से निकाला था। इसी समय गुजराती भाषी 'आर्य समाज' के संस्थापक स्वामी दयानंद ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में लिखा।

भारतेन्दु युग

भारतेन्दु हरिश्चंद्र (1855-1885) को हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। उन्होंने श्कविवचन सुधा' 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' और 'हरिश्चंद्र पत्रिका' भी निकाली थीं। इसके साथ ही अनेक नाटकों आदि की रचना भी की। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रसिद्ध नाटक हैं- 'चंद्रावली' 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' आदि। ये नाटक रंगमंच पर भी बहुत लोकप्रिय हुए। इस काल में निबंध, नाटक, उपन्यास तथा कहानियों की रचना हुई। इस काल के लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, राधा चरण गोस्वामी, उपाध्याय बदरीनाथ चौधरी 'प्रेमघन' लाला श्रीनिवास दास, देवकीनन्दन खत्री और किशोरी

लाल गोस्वामी आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश लेखक होने के साथ-साथ पत्रकार भी थे। श्रीनिवासदास के उपन्यास 'परीक्षागुरू' को हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जाता है। कुछ विद्वान् श्रद्धाराम फुल्लौरी के उपन्यास श्भाग्यवती' को भी हिन्दी का पहला उपन्यास स्वीकार करते हैं। देवकीनंदन खत्री का श्चंद्रकांता' तथा 'चंद्रकांता संतति' आदि इस युग के प्रमुख उपन्यास हैं। ये उपन्यास इतने अधिक लोकप्रिय हुए थे कि इनको पढ़ने के लिये ऐसे अहिन्दी लोग, जो हिन्दी पढ़ना-लिखना आदि नहीं जानते थे, उन्होंने हिन्दी भाषा सीखनी शुरू कर दी थी। इस युग की कहानियों में शिवप्रसाद सितारे हिन्द की 'राजा भोज का सपना' महत्त्वपूर्ण है।

द्विवेदी युग

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के नाम पर ही इस युग का नाम श्द्विवेदी युग' रखा गया था। सन 1903 में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' नामक पत्रिका के संपादन का भार संभाला। उन्होंने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को स्थिर किया और पत्रिका के माध्यम से रचनाकारों के एक बड़े समुदाय को खड़ी बोली में लिखने को प्रेरित किया। इस काल में निबंध, उपन्यास, कहानी, नाटक एवं समालोचना का अच्छा विकास हुआ। द्विवेदी युग के निबंधकारों में महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, श्यामसुंदर दास, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बाल मुकंद गुप्त और अध्यापक पूर्ण सिंह आदि उल्लेखनीय हैं। इनके निबंध गंभीर, ललित एवं विचारात्मक हैं, किशोरीलाल गोस्वामी और बाबू गोपाल राम गहमरी के उपन्यासों में मनोरंजन और घटनाओं की रोचकता है। हिन्दी कहानी का वास्तविक विकास 'द्विवेदी युग' से ही शुरू हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी की श्इंदुमती कहानी' को कुछ विद्वान् हिन्दी की पहली कहानी मानते हैं। अन्य कहानियों में 'बंग महिला की दुलाई वाली' रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' जयशंकर प्रसाद की 'ग्राम' और चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' महत्त्वपूर्ण हैं। समालोचना के क्षेत्र में पद्मसिंह शर्मा उल्लेखनीय हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, शिवनंदन सहाय तथा राय देवीप्रसाद पूर्ण द्वारा कुछ नाटक आदि भी लिखे गए थे।

रामचन्द्र शुक्ल एवं प्रेमचंद युग

गद्य के विकास में इस युग का विशेष महत्त्व है। रामचंद्र शुक्ल ने निबंध, हिन्दी साहित्य के इतिहास और समालोचना के क्षेत्र में गंभीर लेखन किया। उन्होंने मनोविकारों

पर हिन्दी में पहली बार निबंध लेखन किया। साहित्य समीक्षा से संबंधित निबंधों की भी रचना की। उनके निबंधों में भाव और विचार अर्थात् बुद्धि और हृदय दोनों का समन्वय है। हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के रूप में लिखा गया उनका इतिहास आज भी अपनी सार्थकता बनाए हुए है। मलिक मुहम्मद जायसी, तुलसीदास और सूरदास पर लिखी गयी उनकी आलोचनाओं ने भावी आलोचकों का मार्गदर्शन किया। इस काल के अन्य निबंधकारों में जैनेन्द्र कुमार जैन, सियारामशरण गुप्त, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और जयशंकर प्रसाद आदि उल्लेखनीय हैं। कथा साहित्य के क्षेत्र में ख्याति प्राप्त प्रेमचंद ने क्रांति ही कर डाली।

कथा साहित्य केवल मनोरंजन, कौतूहल और नीति का विषय ही नहीं रहा था, बल्कि सीधे जीवन की समस्याओं से जुड़ गया। मुंशी प्रेमचन्द ने श्सेवा सदन' 'रंगभूमि' 'निर्मला' 'गबन' एवं 'गोदान' आदि उपन्यासों की रचना की। उनकी तीन सौ से अधिक कहानियाँ 'मानसरोवर' के आठ भागों में तथा 'गुप्तधन' के दो भागों में संग्रहित हैं। 'पूस की रात' 'कफन' 'शतरंज के खिलाड़ी' 'पंच परमेश्वर' 'नमक का दरोगा' तथा 'ईदगाह' आदि उनकी कहानियाँ खूब लोकप्रिय हुयीं। इस काल के अन्य कथाकारों में विश्वंभर शर्मा 'कौशिक' वृंदावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, पांडेय बेचन शर्मा श्उग्र' उपेन्द्रनाथ अश्क, जयशंकर प्रसाद, भगवतीचरण वर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का विशेष स्थान है। इनके श्चंद्रगुप्त' 'स्कंदगुप्त' 'ध्रुवस्वामिनी' जैसे ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास और कल्पना तथा भारतीय और पाश्चात्य नाट्य पद्यतियों का समन्वय हुआ है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, जगदीशचंद्र माथुर आदि इस काल के उल्लेखनीय नाटककार हैं।

अद्यतन काल

इस काल में गद्य का चहुँमुखी विकास हुआ। हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, नंददुलारे वाजपेयी, नगेंद्र, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा रामविलास शर्मा आदि ने विचारात्मक निबंधों की रचना की है। हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, विवेकी राय और कुबेरनाथ राय ने ललित निबंधों की रचना की है। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रवींन्द्रनाथ त्यागी तथा के. पी. सक्सेना, के व्यंग्य आज के जीवन की विद्रूपताओं के उद्घाटन में सफल हुए हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव और भगवती चरण वर्मा ने उल्लेखनीय उपन्यासों की रचना

की। नागार्जुन, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतराय तथा राही मासूम रजा ने लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास लिखे हैं। मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, भैरव प्रसाद गुप्त आदि ने आधुनिक भाव बोध वाले अनेक उपन्यासों और कहानियों की रचना की है। अमरकांत, निर्मल वर्मा तथा ज्ञानरंजन आदि भी नए कथा साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्तंभ हैं।

प्रसादोत्तर नाटकों के क्षेत्र में लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकांत वर्मा तथा मोहन राकेश के नाम उल्लेखनीय हैं। कन्है,ालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि ने संस्मरण, रेखाचित्र व जीवनी आदि की रचना की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हजारी प्रसाद द्विवेदी, नंद दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा तथा नामवर सिंह ने हिन्दी समालोचना को समृद्ध किया। आज गद्य की अनेक नयी विधाओं, जैसे- यात्रा वृत्तांत, रिपोर्ताज, रेडियो रूपक, आलेख आदि में विपुल साहित्य की रचना हो रही है और गद्य की विधाएँ एक दूसरे से मिल रही हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में पद्य का विकास

आधुनिक काल में लिखी जाने वाली कविता को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है-

नवजागरण काल (भारतेन्दु युग) - 1850 ई. से 1900 ई. तक

सुधार काल (द्विवेदी युग) - 1900 ई. से 1920 ई. तक

छायावादी युग - 1920 ई. से 1936 ई. तक

प्रगतिवाद-प्रयोगवाद - 1936 ई. से 1953 ई. तक

नई कविता व समकालीन कविता - 1953 ई. से अब तक

नवजागरण काल (भारतेन्दु युग)

इस काल की कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह पहली बार जन-जीवन की समस्याओं से सीधे जुड़ती है। इसमें भक्ति और श्रृंगार के साथ साथ समाज सुधार की भावना भी अभिव्यक्त हुई। पारंपरिक विषयों की कविता का माध्यम ब्रजभाषा ही रही, लेकिन जहाँ ये कविताएँ नवजागरण के स्वर की अभिव्यक्ति करती हैं, वहाँ इनकी भाषा हिन्दी हो जाती है। कवियों में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का व्यक्तित्त्व प्रधान रहा। उन्हें नवजागरण का अग्रदूत कहा जाता है। प्रताप नारायण मिश्र ने हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान की वकालत की। अन्य कवियों में उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'पेमघन' के नाम उल्लेखनीय हैं।

सुधार काल (द्विवेदी युग)

हिन्दी कविता को नया रंगरूप देने में श्रीधर पाठक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्हे 'प्रथम स्वच्छंदतावादी कवि' कहा जाता है। उनकी 'एकांत योगी' और 'कश्मीर सुषमा' खड़ी बोली की सुप्रसिद्ध रचनाएँ हैं। रामनरेश द्विवेदी ने अपने 'पथिक मिलन' और 'स्वप्न' महाकाव्यों में इस धारा का विकास किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'प्रिय प्रवास' को खड़ी बोली का पहला महाकाव्य माना गया है। महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली में अनेक काव्यों की रचना की। इन काव्यों में श्भारत भारती' 'साकेत' 'जयद्रथ वध' 'पंचवटी' और 'जयभारत' आदि उल्लेखनीय हैं। उनकी 'भारत भारती' में स्वाधीनता आंदोलन की ललकार है। राष्ट्रीय प्रेम उनकी कविताओं का प्रमुख स्वर है। इस काल के अन्य कवियों में सियाराम शरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, नाथूराम शंकर शर्मा तथा गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। छायावाद

छायावादी युग

कविता की दृष्टि से इस काल में एक दूसरी धारा भी थी, जो सीधे-सीधे स्वाधीनता आंदोलन से जुड़ी थी। इसमें माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' नरेन्द्र शर्मा, रामधारी सिंह 'दिनकर' श्रीकृष्ण सरल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस युग की प्रमुख कृतियों में जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' और 'आँसू' सुमित्रानंदन पंत का श्पल्लव' 'गुंजन' और 'वीणा' सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की 'गीतिका' और श्अनामिका' तथा महादेवी वर्मा की श्यामा' श्दीपशिखा' और 'सांध्यगीत' आदि कृतियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। 'कामयनी' को आधुनिक काल का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य कहा जाता है। छायावादोत्तर काल में हरिवंशराय बच्चन का नाम उल्लेखनीय है। छायावादी काव्य में आत्मपरकता, प्रकृति के अनेक रूपों का सजीव चित्रण, विश्व मानवता के प्रति प्रेम आदि की अभिव्यक्ति हुई है। इसी काल में मानव मन सूक्ष्म भावों को प्रकट करने की क्षमता हिन्दी भाषा में विकसित हुई।

प्रगतिवाद

वर्ष 1936 के आस-पास से कविता के क्षेत्र में बड़ा परिवर्तन दिखाई पड़ा। प्रगतिवाद ने कविता को जीवन के यथार्थ से जोड़ा। प्रगतिवादी कवि कार्ल

मार्क्स की समाजवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। युग की मांग के अनुरूप छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ने अपनी बाद की रचनाओं में प्रगतिवाद का साथ दिया। नरेंद्र शर्मा और दिनकरजी ने भी अनेक प्रगतिवादी रचनाएँ कीं। प्रगतिवाद के प्रति समर्पित कवियों में केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री और गजानन माधव 'मुक्तिबोध' के नाम उल्लेखनीय हैं। इस धारा में समाज के शोषित वर्ग मजदूर और किसानों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गयी। धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक विषमता पर चोट की गयी और हिन्दी कविता एक बार फिर खेतों और खलिहानों से जुड़ी गई।

प्रयोगवाद

प्रगतिवाद के समानांतर प्रयोगवाद की धारा भी प्रवाहित हुई। अज्ञेय को इस धारा का प्रवर्तक स्वीकर किया गया। सन 1943 में अज्ञेय ने 'तार सप्तक' का प्रकाशन किया। इसके सात कवियों में प्रगतिवादी कवि अधिक थे। रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, नेमिचंद जैन, गजानन माधव 'मुक्तिबोध' गिरिजाकुमार माथुर और भारतभूषण अग्रवाल ये सभी कवि प्रगतिवादी हैं। इन कवियों ने कथ्य और अभिव्यक्ति की दृष्टि से अनेक नवीन प्रयोग किये। अत: 'तार सप्तक' को प्रयोगवाद का आधार ग्रंथ माना गया। अज्ञेय द्वारा संपादित 'प्रतीक' में इन कवियों की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं।

नई कविता और समकालीन कविता

सन 1953 ई. में इलाहाबाद से श्नई कविता' पत्रिका का प्रकाशन हुआ। इस पत्रिका में नई कविता को प्रयोगवाद से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित किया गया। दूसरा सप्तक (1951), तीसरा सप्तक (1951) तथा चौथे सप्तक के कवियों को भी नए कवि कहा गया। वस्तुत: नई कविता को प्रयोगवाद का ही भिन्न रूप माना जाता है। इसमें भी दो धराएँ परिलक्षित होती हैं–

वैयक्तिकता को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करने वाली धारा – इसमें अज्ञेय, धर्मवीर भारती, कुंवर नारायण, श्रीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त प्रमुख हैं।

प्रगतिशील धारा – जिसमें गजानन माधव 'मुक्तिबोध' रामविलास शर्मा, नागार्जुन, शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह तथा सुदामा पांडेय धूमिल आदि उल्लेखनीय हैं।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना में इन दोनों धराओं का मेल दिखाई पड़ता है। इन दोनों ही धाराओं में अनुभव की प्रामाणिकता, लघुमानव की प्रतिष्ठा तथा बौधिकता का आग्रह आदि प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। साधारण बोलचाल की शब्दावली में असाधारण अर्थ भर देना इनकी भाषा की विशेषता है। समकालीन कविता में गीत, नवगीत और गजल की ओर रुझान बढ़ा है। आज हिन्दी की निरंतर गतिशील और व्यापक होती हुई काव्य धारा में संपूर्ण भारत के सभी प्रदेशों के साथ ही साथ संपूर्ण विश्व में लोकिप्रिय हो रही है। इसमें आज देश विदेश में रहने वाले अनेक नागरिकताओं के असंख्य विद्वानों और प्रवासी भारतीयों का योगदान निरंतर जारी है।

16

भारतेन्दु युग

हिन्दी साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के प्रथम चरण को 'भारतेन्दु युग' की संज्ञा प्रदान की गई है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का प्रतिनिधि माना जाता है। भारतेन्दु का व्यकितत्त्व प्रभावशाली था, वे सम्पादक और संगठनकर्त्ता थे, वे साहित्यकारों के नेता और समाज को दिशा देने वाले सुधारवादी विचारक थे, उनके आसपास तरुण और उत्साही साहित्यकारों की पूरी जमात तैयार हुई, अतः इस युग को भारतेन्दु-युग की संज्ञा देना उचित है। डा. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है कि 'प्राचीन से नवीन के संक्रमण काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतवासियों की नवोदित आकांक्षाओं और राष्ट्रीयता के प्रतीक थेय वे भारतीय नवोत्थान के अग्रदूत थे। जय भारत जय भारती जिस समय खड़ी बोली गद्य अपने प्रारिम्भक रूप में थी, उस समय हिन्दी के सौभाग्य से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। उन्होंने राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मण सिंह की आपस में विरोधी शैलियों में समन्वय स्थापित किया और मध्यम मार्ग अपनाया।

इस काल में हिन्दी के प्रचार में जिन पत्र-पत्रिकाओं ने विशेष योग दिया, उनमें उदन्त मार्तण्ड, कवि वचन सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन अग्रणी हैं। इस समय हिन्दी गद्य की सर्वांगीण प्रगति हुई और उसमें उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना, जीवनी आदि विधाओं में अनूदित तथा मौलिक रचनाएँ लिखी गयीं।

भारतेन्दु मण्डल

बहुमुखी प्रतिभा के धनी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रभूत साहित्य रचा एवं अनेक साहित्यकारों को अपनी प्रतिभा से प्रभावित एवं प्रेरित किया। इन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी श्प्रेमघन' राधाचरण गोस्वामी एवं रायकृष्णदास प्रमुख हैं। इन्होंने हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाया। यही भारतेन्दु का समकालीन एवं सहयोगी साहित्यकार मण्डल भारतेन्दु मण्डल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हिन्दी साहित्य में यह समय भारतेन्दु युग के नाम से अभिहित किया जाता है।

भारतेन्दुकालीन कथा

कथा साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास एवं कहानी को ग्रहण किया जाता है। भारतेन्दु काल में इन दोनों का लेखन प्रारम्भ हुआ, जिनके पृथक-पृथक विवेचन निम्नलिखित है।

उपन्यास

भारतेन्दु काल में हिन्दी की उप विधा का विकास हुआ। पण्डित बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान' इस समय का उपदेश-प्रधान आदर्शवादी उपन्यास है। इसमें उस परिपूर्ण श्यामा-स्वप्न उपन्यास काव्य-सौन्दर्य से भरा हुआ है। अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रहमचारी' और राधाकृष्णदास का शनि:सहाय हिन्दू' इस काल के अन्य उपन्यास हैं।

कहानी

कहानी का क्रमबद्ध विकास भारतेन्दु युग से होता है। इस युग में केवल बंगला तथा अंग्रेजी कहानियों के अनुवाद हुए। मौलिक रूप में जो कहानियां लिखी गई, उन पर इनका प्रभाव दिखाई देता है। भारतेन्दु जी ने एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न नामक कहानी लिखी, जिसे अधिकांश विद्वान हिन्दी की प्रथम साहित्यिक तथा मौलिक कहानी मानते हैं। सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन के साथ-साथ हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियाँ प्रकाश में आयीं। सरस्वती के प्रारम्भिक कहानी लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी, पार्वतीनन्दन, बंग महिला, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. भगवानदास आदि प्रमुख हैं।

इस युग में मौलिक तथा अनूदित दोनों ही प्रकार के नाटक लिखे गये। भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में चन्द्रावली, नीलदेवी, भारत-दुर्दशा प्रमुख हैं। अनूदित नाटकों में कुछ बंगला से और कुछ संस्कृत से अनूदित हैं। इस काल में प्रतापनारायण मिश्र ने गौ संकट, कलि प्रभाव, ज्वारी-ख्वारी, हमीर-हठ, राधाकृष्णदास ने महारानी पद्मावती, महाराणा पताप, दुखिनी बाला, बाबू गोकुलचन्द ने बूढ़े मुंह मुहासे, लोग चले तमाशे, आदि नाटक लिखे। श्रीनिवास दास, बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास आदि इस काल के अन्य नाटककार हैं।

निबन्ध

हिन्दी में निबन्ध साहित्य का प्रारम्भ भारतेन्दु युग की पत्र-पत्रिकाओं से होता है। प्रायः तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में उनके सम्पादक उस समय की सांस्कृतिक तथा राजनीतिक समस्याओं पर लेख लिखा करते थे। भारतेन्दु ने सर्वप्रथम कविवचन सुधा तथा हरिश्चन्द्र मैगजीन में साहित्यिक ढंग से निबन्ध लिखे। इसके बाद पं प्रतापनारायण मिश्र तथा पं बालकृष्ण भट्ट तथा बद्रीनारायण चौधरी प्रेमघन ने क्रमषः हिन्दी प्रदीप, ब्राहमण तथा आनन्द कादम्बिनी नामक पत्रिकाओं में निबन्ध लिखे, जिन्हें साहित्यिक कोटि के निबन्ध कहा जाता है। इसी समय पं.बालकृष्ण भट्ट ने विनोदपूर्ण तथा गम्भीर षैली में विवेचनात्मक, आलोचनात्मक तथा भावात्मक निबंध लिखे। बालमुकुन्द गुप्त, प्रेमघन, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी इस युग के अन्य प्रसिद्ध निबन्ध लेखक हैं।

आलोचना

भारतेन्दु युग में गद्य के अन्य अंगों के साथ-साथ आलोचना विधा भी नया रूप धारण कर आगे बढ़ी। उसके स्वरूप और प्रकार में नये तत्त्वों का समावेश हुआ। साहित्यिक विवेचना में बौद्धिकता की प्रधानता हो गयी। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, नाटक आदि के साथ-साथ उनकी आलोचनाएं भी लिखी जाने लगीं। इस नवीन आलोचना के विकास में तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं का प्रमुख हाथ रहा। इस समीक्षा के प्रवर्तकों में भारतेन्दु, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट, श्री निवास दास, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री आदि प्रसिद्ध हैं।

आनन्द कादम्बिनी नामक पत्रिका के द्वारा प्रेमघन ने पुस्तकों की विस्तृत तथा गम्भीर आलोचना प्रारम्भ की। इन्होंने श्रीनिवास दास के संयोगिता स्वयंवर नाटक की बड़ी विशद् और कड़ी आलोचना लिखकर प्रकशित की।

भारतेन्दु युग के साहित्यिक महत्त्व

आधुनिक हिंदी काव्य के प्रथम चरण को भारतेन्दु युग की संज्ञा प्रदान की गई है। यह नामकरण सुकवि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के महिमा मण्डित व्यक्तित्त्व को ध्यान में रखकर किया गया। भारतेन्दु युग के पूर्व कविता में रीतिकालीन प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। अतिशय शृंगारिकता, अलंकार मोह, रीति निरुपण एवं चमत्कारप्रियता के कारण कविता जन-जीवन से कट गई थी। देशी रियासतों के संरक्षण में रहने वाले कविगण रीतीकाल के व्यामोह से न तो उबरना चाहते थे और न ही उबरने का प्रयास कर रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में भारतेन्दु जी का काव्य-क्षेत्र में पदार्पण वस्तुतः आधुनिक हिन्दी काव्य के लिये वरदान सिद्ध हुआ। उन्होंने काव्य क्षेत्र को आधुनिक विषयों से संपन्न किया और रीति की बँधी-बँधायी परिपाटी से कविता-सुन्दरी को मुक्त करके ताजी हवा में साँस लेने का सुअवसर प्रदान किया।

भारतेन्दु युग में परंपरागत धार्मिकता और भक्ति भावना को अपेक्षतया गौण स्थान प्राप्त हुआ, फिर भी इस काल के भक्ति काव्य को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता हैं - निर्गुण भक्ति, वैष्णव भक्ति और स्वदेशानुराग-समन्वित ईश्वर-भक्ति। इस युग में हास्य-व्यंग्यात्मक कविताओं की भी प्रचुर परिणाम में रचना हुई ।

काव्य-रूप की दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन कवियों ने प्रधानतः मुक्तक काव्य की रचना की है। खडी बोली की कविताओं में व्यावहारिकता पर बल होने के फलस्वरुप ब्रजभाषा के कवि अन्य भाषाओं से शब्द चयन के विषय में क्रमशः अधिक उदार होते गए, अतः भोजपुरी, बुंदेलखंडी, अवधी आदि प्रांतीय भाषाओं के अतिरिक्त उर्दू और अंग्रेजी की प्रचलित शब्दावली को भी अपना लिया गया। दोहा, चौपाई, सोरठा, कुंडलिया, रोला, हरिगीतिका आदि मात्रिक छंद और कवित्त, सवैया, मंदाक्रांता, शिखरिणी, वंशस्थ, वसंततिलका आदि वर्णिक छंद कवि-समुदाय में विशेष प्रचलित रहे।

भारतेन्दु युग के कवियों की सबसे बडी साहित्यिक देन केवल यही मानी जा सक्ती है कि इन्होंने कविता को रीतिकालीन परिवेश से मुक्त करके समसामयिक जीवन से जोड दिया। भारतेन्दु आधुनिक काल के जनक थे और भारतेन्दु युग के अन्य कवि उनके प्रभामंडल में विचरण करने वाले ऐसे नक्षत्र थे जिन्होंने अपनी खुली आँखों से जन-जीवन को देखकर उसे अपनी कविता

का विषय बनाया । इस काल में कविता और जीवन के निकट का संबंध स्थापित हुआ और यही इस कविता का महत्त्व है।

ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त हिंदी लेखक अमरकांत और श्रीलाल शुक्ल जी को बधाईयाँ देते हुए श्रीलाल शुक्ल का जीवन एवं रचना का संक्षिप्त परिचय देना चाहता हूँ। श्रीलाल शुक्ल जी हिंदी साहित्य के प्रमुख साहित्यकार है। श्रीलाल शुक्ल का जन्म लखनऊ की मोहनलाल गंज बस्ती के पास अतरौली ग्राम में 31 दिसम्बर, 1925 में हुआ। उनके परिवार गरीबों का था, पर पिछली दो-तीन पीढियों से पठन पाठन की परम्परा थी। इनके पिता का नाम व्रजकिशोर शुक्ल है। उनके पिता गरीब थे,पर उनके संस्कार गरीबी के न थे। उनके पिता को संस्कृत, हिन्दी, उर्दू का कामचलाऊ ज्ञान था। गरीबी और अभावों की स्थिति श्रीलाल शुक्ल के बचपन से हैं। उनके पिता का पेशा न था। उनके जीवन कुछ समय तक खेती पर, बाद में श्रीलाल शुक्ल के बडे भाई पर निर्भर रहे। श्रीलाल शुक्ल की माँ उदारमन और उत्साही थी। प्रेमचंद और प्रसाद की कई पुस्तकें श्रीलाल शुक्ल आठवीं कक्षा में ही पढी थी। वे इतिहास साहित्य और शास्त्रीय संगीत के प्रेमी है। उनकी मिडिल स्कूल की शिक्षा मोहनलाल गंज, हाईस्कूल की शिक्षा कान्यकुब्ज वोकेशनल कॉलेज, लखनऊ और इन्टरमीडियट की शिक्षा कान्यकुब्ज कॉलेज, कानपुर में हुई। इन्टरमीडियट होने के बाद उन्होंने सन् 1945 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी.ए में प्रवेश लिया। बी.ए के बाद लखनऊ विश्वविद्यालय में एम.ए और कानून की शिक्षाओं में प्रवेश लिया। सन् 1948 में घर जाकर शादी कर ली, पत्नी का नाम गिरिजा थी। गिरिजा जी बहुत अच्छी श्रोता थी, साहित्य और संगीत की अच्छी जानकारी थी। उनके तीन पुत्रियाँ और एक पुत्र है। सन् 1949 में उत्तरप्रदेश सिविल में नियुक्ति पाया, बाद में आई.ए. एस में प्रोन्नत, सन् 1983 में सेवानिवृत्त। सरकारी नौकरी में आ जाने के बाद लेखन से वास्ता रहा।

श्रीलाल शुक्ल का व्यक्तित्त्व बडा पारदर्शी है। वे बहुत परिश्रमी, ईमानदार, शीघ्र निर्णय लेने वाले आदमी है। काम में उनका प्रैक्टिकल एप्रोच है। वे सबके प्रति समान आदरभाव रखते है। उनके गाँव के जो मित्र हैं, उनके साथ अवधी में बातें करने का अटूट आकर्षण है। अनेक साहित्य सम्मेलन में भी ये सभी शामिल होते हैं। व्यावहारिक होने के नाते उनके दोस्तों के साथ भी गहरी मित्रता बन गयी है। उनके रचनाओं के आधार पर समझते हैं कि श्रीलाल शुक्ल व्यावहारिक, साथ ही सहानुभूति भी है। श्रीलाल शुक्ल के बारे में लीलाधर

जगूडी समझाते है कि "श्रीलाल शुक्ल के लिए अपना समय, अपना समाज और अपने लोग ही महत्त्वपूर्ण है। एक उपन्यासकार के रूप में वे आजादी के बाद के समाजशास्त्री और इतिहासकार है। वे तरह-तरह से आजादी के बाद के समाज की मूल्यहीनता और आधुनिकता के संकट के साथ-साथ राजनीति के हाथों पराजित होते समाज को इतिहास में प्रवेश दिलाते हैं"।

साहित्य के प्रति श्रीलाल शुक्ल जी की रूचि अनेक रचनाएँ लिखने में सफल हुई। हास्य, व्यंग्य उपन्यास, अपराध कथाएँ, अनेक कहानियाँ, व्यंग्य निबंध, टिप्पणियाँ, जीवनी, आलोचना, अनुवाद में सफलता पाई। इसके साथ "हिन्दी हास्य-व्यंग्य संकलन" का सम्पादन भी किये। उनके प्रसिद्द यंग्य उपन्यास "राग दरबारी" का सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया। सन् 1969 में "राग दरबारी" पर साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। सन् 1979 में "मकान" पर मध्य प्रदेश साहित्य परिषद का देव पुरस्कार मिला। सन् 1988 में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान व्दारा साहित्य भूषण सम्मान मिली। सन् 1994 में उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का अतिविशिष्ट लोहिया सम्मान मिली। सन् 1996 मध्य प्रदेश शासन व्दारा शरद जोशी सम्मान मिली। सन् 1997 में मध्य प्रदेश शासन व्दारा मैथिलीशरण गुप्त सम्मान भी मिली। श्रीलाल शुक्ल को भारत सरकार ने 2008 में पद्मभूषण पुरस्कार से सम्मानित किया है। देश के सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान 45वाँ ज्ञानपीठ पुरस्कार से वरिष्ठ साहित्यकार श्री लाल शुक्ल को भारत सरकार ने सितम्बर, 2011 में सम्मानित किया है। ऐसे महान साहित्यकार के बारे में शोध प्रबंध प्रस्तुतकर, पी.एच.डी उपाधि पाकर एक शोधार्थी के रूप में मेरा जन्म भी सार्थक हुई। इसलिए श्रीलाल शुक्ल जी को बधाईयाँ देते हुए आप सब को धन्यवाद।

❒❒❒